श्री ब्रह्म-संहिता काव्य का उद्गम प्राचीन काल से अज्ञात था। वैदिक परम्परा के अनुसार, ब्रह्म-संहिता के ये श्लोक इस ब्रह्माण्ड के प्रथम निर्मित जीव श्री ब्रह्मा ने, असंख्य युगों पूर्व, सृष्टिरचना प्रारम्भ करने से पहले गाये थे। श्री ब्रह्म-संहिता का प्रारम्भ पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा श्री ब्रह्मा को दिए गये ज्ञान से होता है। उसके बाद श्री ब्रह्मा की असामान्य रूप से सुन्दर प्रार्थनाएं आती है, जो उन्होंने उनके साक्षात्कार के क्षण की थी, जिनमें भगवान् का धाम अर्थात् आध्यात्मिक जगत्, ब्रह्माण्ड का आविष्कार और भगवान् कृष्ण के तथा उनके पार्षदों के गुणों का वर्णन आता है। श्री ब्रह्म-संहिता के इस संस्करण का अनुवाद और टीका श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने लिखे हैं, जो श्रील प्रभुपाद (इस्कॉन के संस्थापकाचार्य) के गुरु हैं।

भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट

ISBN 978-93-82716-72-3
90000 >
9 789382 716723

BRAHMASAHITA (H)
RS. 20/-
178

श्री ब्रह्म-संहिता

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती
ठाकुर गोस्वामी महाराज

इस ग्रंथ की विषयवस्तु में जिज्ञासु पाठकगण अपने निकटस्थ किसी भी इस्कॉन केन्द्र से अथवा निम्नलिखित पते पर पत्र-व्यवहार करने के लिए आमंत्रित हैं :

भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट
हरे कृष्ण धाम
जुहू, मुंबई ४०० ०४९

वेब / ई-मेल :
www.indiabbt.com
admin@indiabbt.com

Śrī Brahma-Saṁhitā (Hindi)

First Printing : 10,000 copies
2nd to 5th Printings : 60,000 copies
6th Printing, July 2013 : 20,000 copies

© १९९८ भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट
सर्वाधिकार सुरक्षित

ISBN : 978-93-82176-72-3

प्रकाशक की अनुमति के बिना इस पुस्तक के किसी भी अंश को पुनरुत्पादित, प्रतिलिपित नहीं किया जा सकता। किसी प्राप्य प्रणाली में संग्रहित नहीं किया जा सकता अथवा अन्य किसी भी प्रकार से चाहे इलेक्ट्रोनिक, मेकेनिकल, फोटोकॉपी, रिकार्डिंग से संचित नहीं किया जा सकता। इस शर्त का भंग करने वाले पर उचित कानूनी कार्यवाही की जाएगी।

भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट-मुंबई द्वारा भारत में मुद्रित।

AL3T

विषय-सूची

परिचय ..... *vii*
प्राक्कथन ..... *ix*
श्री ब्रह्म-संहिता १
लेखक-परिचय १००

परिचय

ब्रह्म-संहिता एक अति महत्वपूर्ण शास्त्र है। भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने इसका पाँचवा अध्याय दक्षिण भारत तामिलनाडु राज्य में स्थित आदि-केशव मंदिर से प्राप्त किया था। उस पाँचवे अध्याय में अचिन्त्य-भेदाभेद तत्त्व के दार्शनिक सिद्धांत का वर्णन है। साथ ही विभिन्न भक्ति पद्धतियों, अष्टादशाक्षर वैदिक मंत्र, आत्मा परमात्मा एवं सकाम कर्म पर विवेचना, काम-गायत्री, काम-बीज तथा मूल महाविष्णु की व्याख्या एवं आध्यात्मिक जगत्, विशेषकर गोलोक वृंदावन का विशिष्ट विवरण है। ब्रह्म-संहिता श्री गणेशदेव, गर्भोदकशायी विष्णु, गायत्री मंत्र की उत्पत्ति, गोविंद का विग्रह एवं उनकी दिव्य स्थिति व धाम, जीव-तत्त्व, सर्वोत्तम लक्ष्य, भगवती दुर्गा, तप का अर्थ, पंचभूत, भगवद्-प्रेम, निर्विशेष ब्रह्म, ब्रह्माजी की दीक्षा, एवं चिन्मय प्रेम द्वारा भगवद् दर्शन का विवरण भी देती है। इसमें भक्ति के स्तर भी बताए गए हैं। मन, योग-निद्रा, भगवती लक्ष्मी, रागानुगा भक्ति, श्री रामचन्द्र आदि अवतार, देवतागण, बद्ध-आत्मा तथा उसके कर्तव्य, भगवान् विष्णु की वास्तविकता, स्तुतियाँ, वैदिक मंत्र, भगवान् शिव, वैदिक साहित्य, सगुण-निर्गुण तत्त्व, सदाचरण इत्यादि अनेक विषयों की भी चर्चा हुई है। इसमें सूर्य एवं भगवान् के विश्व-रूपों का भी विवरण है। इस ब्रह्म-संहिता में इन सब विषयों का सार रूप में संक्षिप्त वर्णन हुआ है।

—(श्री चैतन्य चरितामृत मध्य-लीला, अध्याय नौ, श्लोक २३९-२४० तात्पर्य)
कृष्णकृपाश्रीमूर्ति अभयचरणारविंद भक्तिवेदांत स्वामी प्रभुपाद कृत।

कृष्णकृपामूर्ति
श्री श्रीमद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती गोस्वामी ठाकुर

प्राक्कथन

भौतिकतावादी व्यवहार संभवतया कभी भी उस दिव्य निरंकुश शासक तक नहीं पहुँच सकता, जो पतित बद्ध-जीवात्माओं को भक्ति या नित्य सेवाभाव द्वारा अपने सान्निध्य हेतु सदैव आमंत्रित करता रहा है। बद्धजीवों को प्रायः सांसारिक आकर्षण निर्विशेष अद्वैतविरोधी विविधताओं को भोगने हेतु उकसाते रहते हैं। अगर उन्हें अपनी स्थिति से परे अथवा अपने अनुभव-क्षेत्र हेतु स्वयं को शिक्षित करना हो, तो भी वे क्षणिक चिंतन में ही प्रवृत्त हो जाते हैं। अबोधगम्य तत्त्व उन्हें प्रायः क्षणिक एवं परिवर्तनशील वस्तुओं के बाहरी निरीक्षण में ही नित्यता खोजने को बाध्य करता है। यह प्रयत्न उन्हें किसी ऐसे अनिर्वचनीय निर्विशेष तत्त्व में नित्यता की स्थिति निर्धारित करने को प्रेरित करता है, जिसका कोई सूत्र उनकी भौतिक इंद्रियों द्वारा कठोर प्रयास करने पर भी नहीं पाया जा सकता।

इस पुस्तिका के वाक्य ऐसे विभ्रांत जीवों को उनके इंद्रिय अनुभव से परे स्थित नित्य व्यक्तित्व तक की यात्रा में अवश्य मदद करेंगे। इस प्रकाशन का पहला श्लोक ही उनके पूर्वनिर्धारित विचारों को आंदोलित कर देगा, जब परम सत्य का परिचय उन्हे 'कृष्ण' के रूप में मिलेगा। उनका कुतर्की मन उन्हें उस अज्ञात तथ्य को कोई अन्य प्रतीकात्मक नाम देना सुझायेगा। वे अपने अनुभव के अनुसार उसे प्रकृति की किसी भी वस्तु के संकेत से दूर एवं सर्वपरिवर्तनशून्य 'जगत् का स्रष्टा' या 'अदृश्य तत्त्व' का ठप्पा लगाना चाहेंगे। वे बल देंगे कि प्रथमस्रोत में अदृश्यत्व, अश्रवणत्व, अस्पर्शत्व, अगंधत्व तथा अज्ञातत्व के दिशा बोध के सिवाय अन्य कोई चिन्तनीय उपाधि नहीं होनी चाहिए। किन्तु फिर भी वे अपने

अपूर्ण अनुभव से उसका चिंतन करना नहीं छोड़ेंगे। उत्सुक जिज्ञासु विद्वानों द्वारा छोड़े गए वर्णन को असभ्य प्रदर्शन के असंगत भ्रामक विचारों से तोलेगा। मनुष्यों के विभिन्न विचारों द्वारा प्रतिपादित विभिन्न नामों की तुलना करते हुए कोई विशिष्ट निर्णायक अपनी सीमित तथा विशेष सनक के अनुसार किसी एक नाम पर निर्णय ले लेगा। व्यक्ति की परतंत्र मानसिकता निस्सन्देह, उनके लिए अपशाब्दिक आह्वान करेगी, जो उसके पास उसके निर्णय के प्रकाश हेतु आएँगे। इस दोष का समाधान करने हेतु जगत् के मान्य प्रजापति ब्रह्मा की स्तुतियाँ नामकरण के प्रश्न को सुलझाने में बहुत मदद करेंगी, कि ऐसी कौन सी सत्ता है जो पर्याप्त शक्तिपूर्ण होने के नाते पारिस्थितिक प्रयासों द्वारा घटनाओं के अनुभव संबंधी समस्त भ्रमों को दूर करती है?

प्रथम स्तुति परम सत्य की श्रेष्ठता स्थापित कर देगी, किन्तु तभी जब उनके आधार को सीमित काल, अज्ञान तथा असुविधाजनक सोच की गोलियों से छलनी नहीं किया जाए, एवं उसे मूल कारण के स्थान पर प्रभाव मात्र नहीं माना जाए। वह यह जानकर संतुष्ट होगा कि उसके प्रयास का लक्ष्य सर्वोत्तम परमेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण हैं, जिन्होंने नित्य रूप से स्वयं को अपने सच्चिदानंद विग्रह में मूर्तिमंत कर रखा है, जो समस्त भौतिक एवं चिन्मय जीवों के पालनकर्ता एवं अनंत अनादि काल के समस्त मूल कारणों के कारण हैं।

परवर्ती श्लोक परमस्रोत सर्वाकर्षक श्रीकृष्ण से निस्सृत सत्य के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डालेंगे। कृष्णनाम की व्युत्पन्न घोषणा निर्बाध, अनंत, चिन्मय आनंद के स्तर को दर्शायेगी एवं कृष्ण स्वयं मुख्य तथा गौण कारणों के स्रोत माने जायेंगे। दिव्य नाम 'कृष्ण' सारे नित्य चिन्मय रसों की मूर्ति माना गया है तथा हमारे जड़ चिंतन हेतु लेखकों तथा अलंकार-शास्त्रियों द्वारा सफलतापूर्वक प्रदर्शित मानसिकता में पाए जाने

वाले अनवरोधित रसों के तुच्छ विचारों का भी मूल है।

'ब्रह्म-संहिता' के श्लोक भौतिक एवं पारमार्थिक विचारों के मूल के पूर्ण विवरण हैं। ब्रह्मा की स्तुतियाँ उन एकेश्वरवादी चिंतकों से भी पूर्णतः जूझती हैं, जो एक रहस्यपूर्ण मनगढंत तत्त्व को नित्यता के अप्राकृत, अपरिवर्तनशील एवं अनंत प्रकाश के सच्चे तथ्य से रहित एक बाहरी आवरण पहनाने में व्यस्त रहते हैं। स्तुतियों में उस परम सत्य के व्यक्तित्व के विभिन्न आंशिक पक्षों पर प्रकाश डाला गया है जो इस दृश्य जगत् के भोगियों की कल्पना से पृथक् हैं।

प्रचलित समस्त चिंतनों एवं विचारों का तुलनात्मक एवं सतर्क अध्ययन सभी को पीड़ामुक्त एवं प्रबुद्ध करेगा, भले ही वे भौतिकतावादी, घोर नास्तिक, अर्ध-आस्तिक, संशयी, प्रकृतिवादी, बहु-ईश्वरवादी, या यथेश्वरवादी हों—जो अपने शुष्क चिंतन द्वारा त्रिआयामी के ज्ञान में ही व्यस्त हैं।

यह पुस्तक सौ अध्यायों में संग्रहित ब्रह्म-संहिता का पाँचवा अध्याय है। भगवान् चैतन्य इसे ट्रेवेनकोर के तिरुवत्तर ग्राम स्थित आदि-केशव मंदिर से विश्व के समस्त भगवत्प्रेमियों, विशेषकर कृष्णप्रेमी भक्तों, हेतु लाए थे। इस पुस्तक की सहज तुलना श्रीमद्भागवतम् से हो सकती है। यद्यपि इस छोटी पुस्तक का सन्दर्भ पुराणों में मिलता है, किन्तु भागवत इस पंचरात्र के विचार का ही प्रतिपादन करती है।

भक्तों को जानना चाहिए कि उपर्युक्त दोनों ग्रंथ स्वयं श्रीकृष्ण हैं, जो कि समस्त अप्राकृत एवं प्राकृत तत्त्वों के स्रोत हैं एवं पूर्ण विविधता का प्रकाश करते हैं।

कलंक का दोष सीमित जगत् में ही होता है, दिव्य जगत् में ऋजु अर्थात् १८० अंश का कोण होने के नाते ऐसी विसंगतियाँ नहीं हो सकतीं।

ठाकुर भक्तिविनोद ने बँगला में इस संहिता के स्पष्ट तात्पर्य दिए हैं

एवं उनके एक समर्पित अनुयायी ने प्रचार हेतु उसे अंग्रेज़ी में प्रस्तुत किया है। ये तात्पर्य एवं अनुवाद मूल रूप से श्रील जीव गोस्वामी की रचनाओं की पृष्ठभूमि पर आधारित हैं, जो भगवान् श्रीकृष्ण चैतन्य के समकालीन अनुयायी थे। इस संहिता की विषयवस्तु को पूर्णतः पढ़कर शुद्ध आस्तिकता में रुचि रखनेवालों की भावुकता तृप्त होगी। भौतिक निरीक्षण प्रायः कहता है कि आस्तिकता के प्रांतीय सिद्धांत ने सीमित क्षेत्र की नैतिकता के विरुद्ध अप्राकृत एकता को भिन्न रूपों में प्रदर्शित किया है। परन्तु हम ऐसे दोषपूर्ण विचारों से सहमत नहीं हैं क्योंकि हमें ऐतिहासिक अफवाहों एवं दृष्टांतों को मिटाने में सक्षम प्रकाशित चिन्मयता का सम्भावित चित्र प्राप्त है। समस्त दुर्बलताओं एवं स्वाभाविक सीमाओं को निरस्त करनेवाले चिन्मय तत्त्व के विषय में जानने हेतु हमें अपने भोग-उन्मुख भावों को भिन्न दिशा प्रदान करनी चाहिए। इसलिए हम पाठकों से कृष्ण में प्रकाशित चिन्मयता के महत्व पर विशेष ध्यान देने का अनुरोध करते हैं।

यह पुस्तक उन अंग्रेजी जानने वाले लोगों के प्रयोग हेतु छापी गयी थी, जो अप्राकृत सत्यों की पराकाष्ठा में रुचि रखते हैं। इस पुस्तक में वर्णित विषयवस्तु इंद्रियबोध की सीमा में आबद्ध ढेरों भौतिक साहित्य से सर्वथा भिन्न है। यह पुस्तक दक्षिण भारत में लगभग चार शताब्दियों पूर्व प्राप्त हुई थी एवं अब इसे इसी देश में लम्बे समय के पश्चात् पुनः प्रकाशित किया जा रहा है, उसी प्रकार जैसे भगवती गंगा माँ को उन्हीं का जल अर्पण करके पूजित किया जाता है।

सिद्धांत सरस्वती
श्री गौडीय मठ,
कलकत्ता, १ अगस्त, १९३२

श्लोक १

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्।।१।।

ईश्वरः—नियंत्रक; **परमः**—परम; **कृष्णः**—भगवान् कृष्ण; **सत्**—नित्य अस्तित्व युक्त; **चित्**—परम ज्ञान; **आनंद**—और परम आनंद; **विग्रहः**—जिनका विग्रह है; **अनादिः**—अनादि; **आदिः**—स्रोत; **गोविन्दः**—भगवान् गोविन्द; **सर्व-कारण-कारणम्**—सारे कारणों के कारण।

गोविन्द के नाम से विख्यात कृष्ण ही परमेश्वर हैं। उनका सच्चिदानंद शरीर है। वे सबों के मूल उत्स हैं। उनका कोई अन्य उत्स नहीं एवं वे समस्त कारणों के मूल कारण हैं।

तात्पर्य

कृष्ण नित्यनाम, नित्यरूप, नित्यगुण एवं नित्यलीला संपन्न सर्वोपरि परम तत्त्व हैं। 'कृष्ण' नाम ही उनकी प्रेमाकर्षक नित्य परम सत्ता का द्योतक है। सच्चिदानंदधन द्विभुज श्यामसुंदर मुरलीधर विग्रह ही उनका निजी नित्य रूप है। वे अपनी अचिन्त्य चित्-शक्ति द्वारा सर्व-व्यापक होते हुए भी चिन्मय गुण संपन्न सर्व-विमोहनकारी मध्यमाकार बनाए रखते हैं। उनका सर्व-सामंजस्यकारी परम पुरुषत्व उनके नित्य विग्रह में सहज लक्षित है। सर्व-काल अस्तित्व, अनावरित ज्ञान एवं पूर्ण आनंद घनीभूत होकर उनमें शोभायमान होता है। उनका जगत्प्रकाशगत अंश ही सर्व-व्यापक परमात्मा, ईश्वर या विष्णु कहलाता है। अतः यह स्पष्ट है कि कृष्ण ही एकमात्र परमेश्वर हैं। उनकी अद्वितीय विलक्षण मनमोहक आध्यात्मिक देह नित्य से अनंत आध्यात्मिक इंद्रियों एवं अचिन्त्य गुणों से युक्त है। यह

सुंदर आध्यात्मिक छवि से अभिन्न कृष्ण है, एवं कृष्ण का आध्यात्मिक तत्त्व उनकी छवि से अभिन्न है।

आनंदमय ज्ञान के नित्य अस्तित्व का घनीभूत समन्वित तत्त्व ही उनका आकर्षक अप्राकृत श्रीविग्रह है। निर्विशेष निराकार ब्रह्म, जो कि निष्क्रिय, शिथिल, ज्ञानमय सुख का प्रदर्शन है, उनके सच्चिदानंद तेज की आंशिक प्रभा मात्र है। कृष्ण अनंत अशेष ब्रह्म एवं सर्व-व्यापक परमात्मा के भी आदि हैं। श्रीसेवित कृष्ण दिव्य गौओं के स्वामी (गोपति), गोपों के मुखिया (गोपपति), गोपियों के प्रेमी (गोपीपति), गोकुल धाम के शासक (गोकुलपति) एवं सौन्दर्य-युक्त गोलोक के दिव्य वासियों के उपास्य-तत्त्व (गोलोकपति) होने की लीलाओं में 'गोविंद' हैं। वे ब्रह्माण्ड के अधीन तथा अधीश—समस्त कारणों के मूल कारण हैं। कारणार्णव में उनके स्वांश की कला के दृष्टिपात द्वारा इस भौतिक ब्रह्माण्ड की सृष्टि होती है। उनकी तटस्था शक्ति अनंत जीवात्माओं को उसी प्रकार उत्पन्न करती है, जैसे सूर्य से निस्सृत किरणें।

यह संहिता कृष्ण-प्रतिपादक है, इसीलिए प्रारंभ में उनके नामोच्चारण द्वारा मंगलाचरण किया गया है।

श्लोक २

सहस्रपत्रकमलं गोकुलाख्यं महत्पदम्।
तत्कर्णिकारं तद्धाम तदनन्तांशसम्भवम्।।२।।

सहस्र-पत्र—हजार पंखुडियों वाला; **कमलम्**—कमल; **गोकुल-आख्यम्**—गोकुल नामक; **महत्पदम्**—श्रेष्ठ पद; **तत्**—उसकी (कमल की); **कर्णिकारम्**—कर्णिका; **तत्**—उनका (कृष्ण का); **धाम**—धाम; **तत्**—वह (गोकुल); **अनंत**—उनके अनंत स्वरूप, बलराम; **अंश**—अंश से; **संभवम्**—उत्पन्न होता है।

(इस श्लोक में कृष्ण की दिव्य लीलाओं हेतु प्रयुक्त आध्यात्मिक धाम का वर्णन किया गया है।) कृष्ण का गोकुल नामक सर्वोत्कृष्ट धाम सहस्र-पंखुडी वाले कमल के सदृश है जिसके बीच में उनके अनन्त पक्ष के एक अंश से खिले कमल के समान कर्णिका ही श्रीकृष्ण का वास्तविक निवासस्थान है।

तात्पर्य

गोलोक की तरह गोकुल भी प्राकृत सृष्टि का भाग नहीं है। कृष्ण के असीमित स्वभाव से उनकी अनंत शक्ति एवं धाम का प्राकट्य होता है। बलदेव उस शक्ति के आधार हैं। बलदेव के दिव्य तत्त्व के दो पक्ष हैं : अनंत चिन्मय प्रकाश एवं अनंत जड़ क्षेत्र। भौतिक ब्रह्माण्ड की एकपादविभूति को यथास्थान समझाया जायेगा। भगवान् के अप्राकृत अनंत क्षेत्र की त्रिपादविभूतियों का ऐश्वर्यपूर्ण विस्तार बृहत्तर असीमित क्षेत्र के प्रकाशित वैभव को एवं प्राकृत सृष्टि से परे स्थित ज्योतिर्मय आकाश को दर्शाता है, जो कि विरजा के उस पार ब्रह्म-तेज से आवृत्त है। अनंत आत्मा की यह ऐश्वर्यपूर्ण शक्ति तेजमंडल के ऊपरी भाग से निस्सृत होकर परम माधुर्यमय गोकुल या नित्य स्थित गोलोक में विविध ज्योतियों से सौन्दर्ययुक्त होकर पहुँचती है। कुछ लोग इस क्षेत्र को मूलनारायण या महानारायण धाम कहते हैं। अतः गोलोक के समान गोकुल भी सर्वोत्कृष्ट धाम है। एक ही धाम प्राकृत या अप्राकृत स्थान पर होने से क्रमशः गोलोक या गोकुल के रूप में देदीप्यमान होता है।

श्री सनातन गोस्वामी ने हमें सर्वशास्त्रमीमांसा रूप *बृहद्भागवतामृत* में बताया है : "कृष्ण यहाँ इस भूमि पर भी वही लीलाएँ करते हैं जो गोलोक में किया करते हैं। दो धरातलों में जो अंतर है वह उनकी ऊपर

या नीचे की स्थितियों में ही है। अन्य शब्दों में, कृष्ण गोलोक में वही लीलाएँ करते हैं जो वे गोकुल के प्राकृत धरातल पर करते हैं। व्यावहारिक रूप से गोकुल तथा गोलोक में कोई अंतर नहीं, सिवाय इसके कि ऊपरी क्षेत्र में जो कुछ गोलोक के रूप में है, वही प्राकृत क्षेत्र में गोकुल में विद्यमान है जब कृष्ण ने अपनी विभिन्न लीलाएँ वहाँ प्रदर्शित की थीं।" श्री जीव गोस्वामी ने भी अपने षड्संदर्भों के 'भागवत्-संदर्भ' में यही निष्कर्ष दिया है। वृंदावन कृष्ण का नित्य धाम है। गोलोक एवं वृंदावन एकसमान हैं तथापि कृष्ण की अचिन्त्य शक्ति ने गोलोक को आध्यात्मिक धाम की पराकाष्ठा स्वरूप बना दिया है, एवं मथुरामंडलस्थ गोकुल त्रिपादविभूति द्वारा प्रकाशित होने पर भी भौतिक धरातल पर है। मानव की अल्प मति यह नहीं समझ सकती कि मानव चिन्तन से परे की विस्तृत त्रिपादविभूति भला किस प्रकार सीमित भौतिक एकपादविभूति क्षेत्र में समा सकती है? गोकुल चिन्मय धरातल है, इसलिए प्राकृत स्थल में उसकी स्थिति किसी भी प्रकार आबद्ध नहीं अपितु अपने पूर्ण वैभव सहित असीमित रूप से अभिव्यक्त है। किन्तु बद्धजीव अपनी जड़ इंद्रियों द्वारा गोकुल के प्रति भौतिक विचारों का प्रतिपादन उसको अपनी बुद्धि स्तर के अंतर्गत लाने हेतु करते हैं। यद्यपि दर्शक के नेत्र सूर्य को देखते समय बादल से अवरुद्ध हो जाते हैं और क्षुद्र बादल सूर्य को कदापि ढक नहीं सकता, तथापि ढकी हुई दृष्टि सूर्य को बादल से ढका हुआ देखती है। इसी प्रकार बद्ध जीवात्माएँ अपनी दोषाच्छादित बुद्धि, इंद्रियों तथा निर्णयों के द्वारा गोकुल को मापयोग्य भूमिखण्ड मानती हैं। हम नित्य गोलोक में भी गोकुल का दर्शन कर सकते हैं। यह भी एक रहस्य है। अंतिम वरदान की प्राप्ति आत्म प्राप्ति में सफलता है। स्वरूपसिद्धि तब होती है जब कृष्ण की कृपा से बद्ध जीवात्माओं की जड़ एवं सूक्ष्म ग्रंथियों का आवरण दूर

हो जाता है। वैसे, अनन्य भक्ति में सिद्धि से पूर्व गोलोक का विचार गोकुल से भिन्न ही दिखता है। अनंत आध्यात्मिक प्राकट्य का दिव्य धरातल, मानो सहस्रों कमल-पंखुडियों एवं कर्णिकाओं से युक्त, गोकुल ही कृष्ण का नित्य धाम है।

श्लोक ३

कर्णिकारं महद्यन्त्रं षट्कोणं वज्रकीलकम्।
षडंगषट्पदीस्थानं प्रकृत्या पुरुषेण च।।
प्रेमानन्दमहानन्दरसेनावस्थितं हि यत्।
ज्योतीरूपेण मनुना कामबीजेन संगतम्।।३।।

कर्णिकारम्—कर्णिका; **महत्**—बड़ा; **यंत्रम्**—आकृति; **षट्कोणम्**—षट्कोण; **वज्र**—हीरे जैसा; **कीलकम्**—केन्द्रीय आधार; **षट्-अंग-षट्-पदी**—छः अंगों से युक्त अठारह अक्षरों वाला; **स्थानम्**—प्रकाश का स्थान; **प्रकृत्या**—प्रकृति के साथ; **पुरुषेण**—पुरुष के साथ; **च**—भी; **प्रेम-आनंद**—भगवद् प्रेम का आनंद; **महा-आनंद**—महान दिव्य आनंद; **रसेन**—रसपूर्ण; **अवस्थितम्**—स्थित; **हि**—अवश्य; **यत्**—जो; **ज्योतिः-रूपेण**—चिन्मय; **मनुना**—मंत्र के साथ; **काम-बीजेन**—काम-बीज (*क्लीं*); **संगतम्**—जुड़ा हुआ।

उस चिन्मय कमल की कर्णिका के क्षेत्र में ही कृष्ण निवास करते हैं। वह षट्कोणमय आकृति वही है, जिसमें परमतत्त्व की प्रकृति एवं पुरुष अधिष्ठित हैं। सारी शक्तियों के चिन्मय स्रोत के रूप में, स्व-ज्योतिर्मय कृष्ण, हीरे की भाँति कीलक रूप में खड़े हैं। अठारह चिन्मय अक्षरों वाला पवित्रनाम (मंत्र) छह अंगों वाले षट्कोणीय आकार में अभिव्यक्त है।

तात्पर्य

श्रीकृष्ण की चिन्मय लीलाएँ दो प्रकार की होती हैं : प्रकट तथा अप्रकट। भौतिक नेत्रों द्वारा दृष्ट वृंदावन की लीलाएँ श्रीकृष्ण की प्रकट लीलाएँ हैं और जो लीलाएँ दृष्ट नहीं हैं, वे कृष्ण की अप्रकट लीलाएँ हैं। अप्रकट लीलाएँ गोलोक में सर्वदा दृष्ट रहती हैं एवं कृष्ण की इच्छा से गोकुल में भौतिक चक्षुओं द्वारा भी दृष्ट होती हैं। अपने *'कृष्ण-संदर्भ'* में श्री जीव गोस्वामी प्रभु कहते हैं, "अप्रकट लीलाएँ प्रकट कृष्ण-लीला में प्रदर्शित होती हैं, एवं 'गोलोक लीलाएँ' प्राकृत धरातल से कल्पित मात्र की जाने वाली अप्रकट लीलाएँ होती हैं।" अतः यह श्री रूप द्वारा उनके *'भागवतामृत'* में भी समर्थित है। गोकुल की उत्तरोत्तर चिन्मय अभिव्यक्ति गोलोक है। अतएव गोलोक गोकुल का वैभव-प्राकट्य मात्र है। श्रीकृष्ण की नित्य लीलाएँ, गोकुल में अप्रकट होते हुए भी गोलोक में नित्य प्रकाशित रहती हैं। गोलोक गोकुल का दिव्य वैभव-पूर्ण प्राकट्य है। बद्ध जीवों के परिपेक्ष्य में कृष्ण की अप्रकट लीलाओं की अभिव्यक्ति भी दो प्रकार की है : (१) मन्त्रोपासनामयी (२) स्वारसिकी (कृष्ण हेतु हृदय के चिन्मय प्रेम के स्वतः स्फूर्त प्रवाह द्वारा)। श्री जीव गोस्वामी ने कहा है कि मन्त्रोपासनामयी अभिव्यक्ति एक ही लीला के नित्य उपयुक्त स्थान में संभव है। यह ध्यानगत गोलोक प्रकाश की लीला मन्त्रोपासनामयी है। अनेकविध लीला विहार के कारण नाना स्थानों पर भिन्न भावों से होने वाली जो लीला है, वह स्वेच्छामयी होने से *स्वारसिकी* मानी जाती है।

इस श्लोक के दो प्रकार के अर्थ हैं। एक अर्थ है कि चिन्मय अष्टादशाक्षरात्मक मंत्रोपासना की लीला में मंत्र के अक्षरों की भिन्न स्थितियाँ होने से श्री कृष्ण की एक ही लीला का प्रकाश होता है। उदाहरण स्वरूप, *क्लीं कृष्णाय गोविंदाय गोपीजन-वल्लभाय स्वाहा—यह छः* चिन्मय

शब्द युक्त षट्कोणीय मंत्र है ; (१) कृष्णाय (२) गोविंदाय (३) गोपीजन (४) वल्लभाय (५) स्वा (६) हा– ये छः चिन्मय शब्द सम्मिलित होकर मंत्र को दर्शाते हैं।

इसका षट्कोणीय चिन्मय यंत्र इस क्रम में है : मूल बीज अर्थात् *क्लीं* यन्त्रकीलक (मध्य धुरी) स्वरूप। कोई भी इस यंत्र को मन पर अंकित करके एवं उसके आध्यात्मिक तत्वों पर ध्यान द्वारा चंद्रध्वज (शिवजी) की तरह चेतनामय तत्व का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। 'स्वा' शब्द का अर्थ है 'क्षेत्रज्ञ', अर्थात् जो अपनी आत्मा से परिचित हो। 'हा' शब्द चिन्मय स्वभाव को दर्शाता है। मंत्र के इस अर्थ का समर्थन *'श्री हरिभक्ति विलास'* में भी किया गया है। सामान्य अर्थ यह है कि कृष्ण की रहस्यमयी लीलाओं में जो प्रवेश चाहता हो उसे भक्तिरस जनित सम्बंध-ज्ञान के अनुशीलन सहित उनकी चित्स्वरूपगत कृष्णसेवा का अभ्यास करना होगा। (१) *कृष्ण-स्वरूप*—कृष्ण का स्वरूप (२) *कृष्णस्य चिन्मय व्रजलीलाविलास स्वरूप*—व्रज में कृष्ण की चिन्मय लीलाओं का वास्तविक स्वरूप (३) *तत् परिकर-गोपीजन स्वरूप*—उनके परिकर, गोप-गोपों, का वास्तविक स्वरूप (४) *तद्-वल्लभ* — व्रजगोपियों के पदानुसरण में कृष्ण को आत्म-समर्पण का स्वरूप (५) *शुद्ध जीवस्य चिद्* (ज्ञान) *स्वरूप*—शुद्ध जीव के चिन्मय ज्ञान का स्वरूप (६) *चित्-प्रकृतिर अर्थात्-कृष्ण-सेवा स्वभाव*—चित् प्रकृति जागृत होने पर रसमय संबंध की स्थापना या कृष्ण की चिन्मय सेवा का स्वभाव। अर्थ यह है कि परमाश्रय श्रीकृष्ण की वह चिन्मय सेवा ही 'रस' है जो उनको परमपुरुष जानते हुए, पूर्ण द्वारा अनुशासित अर्धांश (श्रीराधिका) के दास्यभाव से, पूर्ण आत्म-समर्पण के रूप में सम्पादित शुद्ध भक्ति द्वारा की जाती है। साधनावस्था में गोलोक या गोकुल की लीला मन्त्रोपासनामयी है एवं सिद्धावस्था में लीलाएँ निर्बाध

चिन्मय विहार के रूप में प्रकाशित होती हैं। यह गोलोक या गोकुल का वास्तविक तथ्य है, जो आगे के श्लोकों में और अधिक स्पष्ट हो जायेगा। *ज्योति-रूपेण मनुना* शब्दों का अर्थ है कि मंत्र में प्रदर्शित चिन्मय अर्थ के माध्यम से उसमें दिव्य कामरूप शुद्ध कृष्ण प्रेम तथा कृष्ण सेवा को सम्मिलित करके व्यक्ति नित्य कृष्ण-प्रेम में अवस्थित हो जाता है। ऐसी नित्य लीलाएँ गोलोक में नित्य प्रकाशित होती रहती हैं।

श्लोक ४

तत्किञ्जल्कं तदंशानां तत्पत्राणि श्रियामपि।।४।।

तत्—उसका (कमल का); **किञ्जल्कम्**—पंखुड़ियाँ; **तत्-अंशानाम्**—(कृष्ण के) अंश; **तत्**—उसकी (कमल की); **पत्राणि**—पत्तियाँ; **श्रियाम्**—(श्रीमती राधारानी आदि) गोपियाँ; **अपि**—भी।

नित्यधाम गोकुल की कर्णिका ही श्रीकृष्ण का षट्कोणीय धाम है। उसकी पंखुड़ियाँ कृष्ण के प्रति परमप्रेम समर्पित हैं तथा उनकी अंशस्वरूपा स्वजातीय गोपियों के निवासस्थान हैं। ये पंखुड़ियाँ अनेक दीवारों जैसी हैं और खूब चमकदार हैं। उस कमल की फैली पत्तियाँ श्रीकृष्ण की परमप्रेयसी श्रीराधिका के *उपवन* रूपी धाम हैं।

तात्पर्य

चिन्मय गोकुल पद्माकार है। नित्य जगत् एक षट्कोणीय आकृति वाला है, जिसके बीच चिन्मय अष्टादशाक्षरात्मक मंत्र रूप में श्री श्रीराधा-कृष्ण विराजमान हैं। उनके चारों ओर उनकी चित्-शक्ति ही प्रिय परिकरों के रूप में प्रकट होकर विराजती है। स्वयं श्री श्रीराधा-कृष्ण मूल कारण

या बीज हैं। *गोपाल-तापनी उपनिषद्* कहती है, "ॐकार" का अर्थ है, सर्व-शक्तिमान गोपाल एवं उनकी शक्ति; और *'क्लीं'* ॐकार ही है। इसलिए *काम-बीज* (सर्वप्रेम का मूल कारण) श्री श्रीराधा-कृष्ण तत्त्वों का वाचक है।

श्लोक ५

चतुरस्रं तत्परितः श्वेतद्वीपाख्यमद्भुतम्।
चतुरस्रं चतुर्मूर्तेश्चतुर्धाम चतुष्कृतम्।।
चतुर्भिः पुरुषार्थैश्च चतुर्भिर्हेतुभिर्वृतम्।
शूलैर्दशभिरानद्धमूर्ध्वाधो दिग्विदिक्ष्वपि।।
अष्टभिर्निधिभिर्जुष्टमष्टभिः सिद्धिभिस्तथा।
मनुरूपैश्च दशभिर्दिक्पालैः परितो वृतम्।।
श्यामैर्गौरैश्च रक्तैश्च शुक्लैश्च पार्षदर्षभैः।
शोभितं शक्तिभिस्ताभिरद्भुताभिः समन्ततः।।५।।

चतुः अस्रम्—चौकोनाकृति स्थान; **तत्**—वह (गोकुल); **परितः**—घिरा हुआ; **श्वेतद्वीप**—श्वेतद्वीप; **आख्यम्**—नाम का; **अद्भुतम्**—अद्भुत; **चतुः अस्रम्**—चौकोनाकृति; **चतुः मूर्तेः**—चार मूल प्रकाशों (वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध) का; **चतुः-धाम**—चार धामों से युक्त; **चतुः-कृतम्**—चार भागों में विभाजित; **चतुर्भिः**—चार; **पुरुष-अर्थैः**-पुरुषार्थ; **च**—और; **चतुर्भिः**—चार; **हेतुभिः**—हेतु, या प्राप्ति के आधार; **वृतम्**—आवृत; **शूलैः**—शूलों सहित; **दशभिः**—दस; **आनद्धम्**—स्थित; **ऊर्ध्व-अधः**—ऊपर-नीचे; **दिक्**—दिशाओं में (उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम); **विदिक्षु**—एवं मध्य दिशाओं में (उत्तरपूर्व, दक्षिणपूर्व, दक्षिणपश्चिम और उत्तरपश्चिम); **अपि**—भी; **अष्टभिः**—आठ; **निधिभिः**—रत्नों सहित; **जुष्टम्**—युक्त; **अष्टभिः**—आठ; **सिद्धिभिः**—सिद्धियाँ (अणिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, महिमा, ईशित्व, वशित्व और

कामवसायिता); **तथा**—भी; **दिक्पालैः**—दिशाओं के पालनकर्ता; **परितः**—हर ओर; **वृतम्**—घिरा हुआ; **श्यामैः**—श्याम; **गौरैः**—पीला; **च**—और; **रक्तैः**—लाल; **च**—और; **शुक्लैः**—सफेद; **च**—भी; **पार्षद-ऋषभैः**—परमोच्च पार्षदों सहित; **शोभितम्**—शोभित हो रहे हैं; **शक्तिभिः**—शक्तियों सहित; **ताभिः**—उन; **अद्भुताभिः**—अद्भुत; **समन्ततः**—हर ओर।

(इस श्लोक में गोकुल की बाह्य आवरण-भूमि का वर्णन है।) गोकुल के बाहरी भाग को घेरे हुए श्वेतद्वीप नामक एक अद्भुत चौकोनाकृतिक धाम है। श्वेतद्वीप चारों दिशाओं में चार खण्डों में विभक्त है। एक एक खण्ड में क्रमशः वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध विराजते हैं। ये चार विभक्त धाम चार पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) तथा उन पुरुषार्थों के साधनकारी मन्त्रात्मक चार वेदों (ऋक्, साम, यजुर् और अथर्व) से आवृत हैं। आठ दिशाएँ तथा ऊर्ध्व और अधो इन दसों दिशाओं में दस त्रिशूल अवस्थित हैं। आठ दिशाएँ महापद्म, पद्म, शंख, मकर, कच्छप, मुकुंद, कुंद तथा नील नामक आठ रत्नों से शोभित हैं। दस दिशाओं के मन्त्ररूपी दस दिग्पाल हैं। शुक्ल, रक्त, श्याम एवं गौर वर्णों के पार्षद विमला आदि नामक असामान्य शक्तियों सहित सभी ओर देदीप्यमान हैं।

तात्पर्य

गोकुल मूलतः चिन्मय प्रेमाभक्ति का पीठ है। अतः भौम व्रज-मण्डलगत यमुना, गोवर्धन, राधा-कुंड इत्यादि उसी के भीतर हैं। समस्त दिशाओं में विस्तारित वैकुण्ठ के सारे ऐश्वर्य भी वहाँ प्रकाशित होते हैं।

चतुर्व्यूह विलास भी वहाँ यथास्थान होते हैं। उन्हीं चतुर्व्यूह-विलासों से प्रकट होकर परव्योम-वैकुण्ठ का विस्तार होता है। वैकुण्ठवर्ती मोक्ष तथा लोकादिगत धर्म, अर्थ, काम भी गोकुल में अपने मूल-बीज रूप से यथास्थान अवस्थित रहते हैं। सब वेद भी वहाँ गोकुलनाथ के गुणगान में तत्पर रहते हैं। जो कृष्ण-कृपा रहित ध्यान द्वारा गोकुल में प्रवेश पाने की चेष्टा करते हैं, उनको रोकने एवं निराश करने हेतु दस दिशाओं में दस त्रिशूल लगे रहते हैं। वे दम्भी मनुष्य, जो योगमार्ग अथवा ज्ञानमार्ग से इस क्षेत्र में पहुँचने का प्रयत्न करते हैं, इन दस त्रिशूलों से बिद्ध होकर अपने प्रयासों में विफल हो जाते हैं। जो आत्म-हनन (निर्वाण) ब्रह्मधाम में उपादेय है, वही त्रिशूलरूप में गोलोक का बाहरी आवरण है। शूल का अर्थ त्रिशूल है। संसारी त्रिगुण एवं त्रिकाल लक्षण ही त्रिशूल हैं। अष्टांग-योगियों तथा निर्विशेष ब्रह्मज्ञानियों को गोलोकाभिमुख होने में ये त्रिशूल पीछे ढकेल देते हैं, एवं उन्हें छिन्न करके निराशा के गर्त में फेंक देते हैं। जो ऐश्वर्यमय भक्ति द्वारा गोलोक की दिशा में अग्रसर होते हैं, वे अणिमादि अष्ट सिद्धियों तथा महापद्मादि अष्टनिधियों को देखकर श्री गालोक के बाहरी आवरण वैकुण्ठ द्वारा मोहित कर लिये जाते हैं। कम बुद्धि वाले जीव सात भुवनों के जगत् में जाकर दस मंत्ररूपी दिग्पालों के नियंत्रण में पड़ जाते हैं। इस प्रकार गोलोक दुर्ज्ञेय तथा दुर्गम बन गया है। केवल भिन्न युगों के भगवद्स्वरूप युगधर्म प्रचारक-गण ही शुद्ध प्रेमाभक्ति द्वारा गोलोक में प्रवेश के इच्छुक साधकों पर कृपा करने हेतु वहाँ सदैव अग्रसर रहते हैं। ये भगवद्स्वरूप अपने-अपने वर्णानुरूप पार्षदों से परिवेष्ठित रहते हैं। गोलोक में श्वेतद्वीप ही उनका धाम है। इसीलिए चैतन्य लीला के व्यासावतार, श्रील ठाकुर वृंदावन ने नवद्वीप धाम का वर्णन श्वेतद्वीप नाम से किया है। इसी श्वेतद्वीप में गोकुल लीलाओं के चरम अंश नित्य

नवद्वीप-लीलाओं के रूप में रहते हैं। अतएव नवद्वीप, व्रज तथा गोलोक एक ही अखण्ड-तत्त्व हैं। उनमें विविधता केवल प्रेमाभक्ति की विभिन्नता के अनुसार अनन्त भावों की विशेषता प्रकट होने से रहती है। इसमें एक अन्य निगूढ़ तत्त्व है जो परमप्रेमी भक्त महाजनगणों को श्रीकृष्ण की साक्षात् कृपा द्वारा ज्ञात होता है। वह है : इस जड़जगत् में उत्तरोत्तर चौदह लोक हैं। सकाम कर्म-सुख की तीव्र लालसायुक्त कामी गृहस्थगण भूः, भुवः तथा स्वः रूप त्रिलोक में ही गमनागमन करते रहते हैं। बृहद्व्रत ब्रह्मचारी, तपस्वी तथा काल्पनिक-सत्यपरायण शांत पुरुषगण निष्काम धर्म-योग द्वारा महः, जनः, तपः एवं सत्य लोकों तक गमनागमन करते हैं। इन लोकों के ऊपर चतुर्मुख ब्रह्मा का धाम है, जिसके ऊपर क्षीरोदकशायी विष्णु का असीमित वैकुण्ठ है। परमहंस संन्यासी तथा श्री हरि द्वारा मारे गए दैत्यगण चौदह भुवनों से परे स्थित विरजा को पार करके ज्योतिर्मय ब्रह्मधाम में प्रवेश करते हैं एवं प्राकृत अहंकार की अस्थायी प्रसुप्तावस्था के रूप में 'निर्वाण' प्राप्त करते हैं। किन्तु ज्ञान-भक्त, शुद्धभक्त, प्रेमभक्त, प्रेमपरभक्त एवं प्रेमातुर भक्तगण जो भगवान् की परमैश्वर्यमयी सेवा करते हैं, वैकुण्ठ अर्थात् परव्योमात्मक दिव्य नारायण-धाम में स्थान पाते हैं।

केवल परम माधुर्ययुक्त तथा व्रज-गोपियों के अनुसरणकारी भक्तगण ही गोलोक धाम प्राप्त करते हैं। रस भेदों के अनुरूप गोलोक में भक्तों की विभिन्न स्थितियाँ कृष्ण की अचिन्त्य शक्ति द्वारा निर्धारित होती हैं। व्रज तथा नवद्वीप के शुद्ध भक्तों के अनुगामी शुद्ध भक्त क्रमशः कृष्ण तथा गौर धाम में स्थित होते हैं। वे एक साथ क्रमशः कृष्ण तथा गौर धाम में सेवा के आनन्द को प्राप्त करते हैं। श्री जीव गोस्वामी अपने ग्रंथ *'गोपाल-चम्पू'* में लिखते हैं कि "*गो* अर्थात् चिन्मय गौओं तथा *गोप* अर्थात् चिन्मय

गोपालकों का आवास होने के कारण परमचिन्मय क्षेत्र गोलोक कहलाता है। यह परम श्रीकृष्ण की रस लीलाओं की पीठ है। उस परम धाम की परम शुद्धता से प्रकट अचिन्त्य रसों के आस्वादन के कारण भी उस क्षेत्र को श्वेतद्वीप कहते हैं। परम गोलोक तथा परम श्वेतद्वीप के दो तत्त्व अखंड रूप से गोलोक धाम हैं।" इस सम्पूर्ण विषय का सार इस प्रकार है—व्रज में कृष्ण की लीलाओं में पूर्ण रस-तृप्ति न मिल पाने के कारण गोलोक श्वेतद्वीप रूप से नित्य प्रकाशित है। कृष्ण रसाश्रयरूपिणी राधिका का भाव तथा अंगकान्ति अंगीकार करके 'कृष्ण-रस' भोग करने हेतु वहाँ नित्य लीला करते हैं। श्रीकृष्णचंद्र ने (१) श्रीराधा के प्रेम की महानता की क्या महिमा है? (२) श्रीराधा द्वारा आस्वादित मेरी अद्भुत मधुरिमा क्या है? (३) उस मधुरिमा के आस्वादन से मिलने वाला राधा का असीम सुख क्या है? इन आनंदों का आस्वादन करने के अनुभव हेतु श्रीकृष्णचंद्र ने चंद्र के समान श्रीशची के गर्भ-समुद्र से जन्म लिया। श्री जीव गोस्वामी का गूढ़ आशय यहाँ व्यक्त हुआ है। वेदों में भी उक्त है, "मैं तुम्हें एक रहस्य बताता हूँ। गोलोक-सदृश नवद्वीप धाम में, गंगा के तट पर द्विभुज, सर्वात्मा, महापुरुष, महात्मा, महायोगी, त्रिगुणातीत, शुद्धसत्वरूप गोविंद गौरचंद्र लोक में शुद्ध भक्ति का प्रकाश करते हैं। वही एकमात्र भगवान् हैं। वे सर्वरूपी महात्मा एवं गौर, रक्त, श्याम व श्वेत रूप में युगावतार हैं। वे साक्षात् चैतन्यस्वरूप, चिच्छक्तिसम्पन्न, भक्तरूप, भक्तिदाता एवं भक्ति द्वारा ज्ञेय हैं। वही गौरचंद्र कृष्ण के साथ अभिन्न होते हुए भी गोलोक के लीला-रस के आस्वादन हेतु नवद्वीप में प्रकट होते हैं।" यह इन वैदिक घोषणाओं से भी स्पष्ट है : "आसन् वर्णास्त्रयः", "कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं", "यथा पश्यः पश्यति रुक्मवर्णं", "महान् प्रभुर्वै" तथा आस्तिक शास्त्रों के अन्य वाक्य। जिस प्रकार मूल शक्ति, योगमाया,

के माध्यम से श्रीकृष्ण ने भौम गोकुल में जन्म लिया था, उसी प्रकार योगमाया के सहयोग से उन्होंने इस भौतिक धरातल पर नवद्वीप में शचीदेवी के गर्भ से अपने जन्म की लीला को प्रकाशित किया। ये सब आध्यात्मिक विज्ञान के परम तत्त्व हैं, माया के दासत्व में काल्पनिक चिंतन के परिणाम नहीं।

श्लोक ६

एवं ज्योतिर्मयो देवः सदानन्दः परात्परः।
आत्मारामस्य तस्यास्ति प्रकृत्या न समागमः।।६।।

एवम्—इस प्रकार; **ज्योतिः-मयः**—चिन्मय; **देवः**—देव; **सत्-आनंदः**—नित्य आनंद; **परात्-परः**—समस्त श्रेष्ठों में श्रेष्ठ; **आत्मा-आरामस्य**—चिन्मय धाम के भोगों में रत; **तस्य**—उनका; **अस्ति**—है; **प्रकृत्या**—प्रकृति के साथ; **न**—नहीं; **समागमः**—संसर्ग।

उस गोकुल धाम के स्वामी चिन्मय परमेश्वर हैं। वे सदानंद स्वरूप तथा परात्पर हैं एवं चिन्मय धाम में ही रमण करते रहते हैं। उनका अपनी जड़ प्रकृति से कोई संग नहीं है।

तात्पर्य

कृष्ण की एकमात्र परा शक्ति ने स्वयं चिच्छक्ति रूप से गोलोक या गोकुल की लीलाओं को प्रकट किया है। उसकी कृपा से तटस्था-शक्तिगत जीवगण भी उन लीलाओं में प्रवेश पा सकते हैं। उस चिच्छक्ति की छायारूप अपरा बहिरंगा मायाशक्ति गोलोक के आवरण-स्वरूप महावैकुंठ की शेष-सीमा ब्रह्मधाम एवं उसके परे जो विरजा नदी है, उसके भी उस पार अवस्थित है। भौतिक दूषण से सर्वथा विहीन गोलोक की अवस्था के कारण बहिरंगा मायाशक्ति, कृष्ण का संग करना तो दूर, उनके सामने

आने में भी लज्जा का अनुभव करती है।

श्लोक ७

माययारममाणस्य न वियोगस्तया सह।
आत्मना रमया रेमे त्यक्तकालं सिसृक्षया।।७।।

मायया—माया सहित; **अरममाणस्य**—उनका, जो कभी रमण नहीं करते; **न**—नहीं; **वियोगः**—वियोग; **तया**—उस; **सह**—से; **आत्मना**—अपनी; **रमया**—आध्यात्मिक शक्ति, रमा के साथ; **रेमे**—रमण करते हैं; **त्यक्त-कालं**—काल शक्ति रूप से दृष्टिपात द्वारा; **सिसृक्षया**—सृष्टि की इच्छा से।

कृष्ण माया शक्ति के साथ कभी रमण नहीं करते; तथापि उस परम सत्य का माया से सर्वतोभाव से विच्छेद भी नहीं है। भौतिक जगत् की सृष्टि करने की इच्छा से अपनी चित्-शक्ति रमा पर कालशक्ति के दृष्टिपात द्वारा वे जो रमण करते हैं, वह गौण कार्य है।

तात्पर्य

माया का कृष्ण से कोई सीधा संग नहीं, अपितु गौण संबंध है। कृष्ण के विलास-पीठ महा वैकुण्ठ में अवस्थित महा-संकर्षणांश कारणार्णवशायी विष्णु द्वारा माया शक्ति पर दृष्टिपात करते हैं। दृष्टिपात करने में भी उनका माया से संस्पर्श नहीं होता क्योंकि चित्-शक्ति रमा तत्काल उनकी विशुद्ध नित्य-समर्पित शक्ति के रूप में ईक्षण-कार्य का वहन करती है। बहिरंगा माया इन्हीं रमादेवी की दासी के रूप में रमा के साथ रमणलीन भगवद्-अंश की सेवा करती है, एवं कालवृत्ति भी इसी रमा का कार्य-करण विक्रम है; अतः सृष्टि प्रभाव या पौरुष पाया जाता है।

श्लोक ८

नियतिः सा रमा देवी तत्प्रिया तद्वशं तदा।
तल्लिङ्गं भगवान् शम्भुर्ज्योतीरूपः सनातनः।
या योनिः सापरा शक्तिः कामो बीजं महद्धरेः।।८।।

नियतिः—नियत करने वाली; **सा**—वह; **रमा**—आध्यात्मिक शक्ति; **देवी**—देवी; **तत्**—उनकी; **प्रिया**—प्रेयसी; **तत्**—उनके; **वशम्**—वश में; **तदा**—तब (सृष्टि के समय में); **तत्**—उनका; **लिंगम्**—लिंग; **भगवान्**—ऐश्वर्यपूर्ण; **शम्भुः**—शम्भु; **ज्योतीरूपः**—ज्योतिपुंज; **सनातन**—नित्य; **या**—जो; **योनिः**—योनि; **सा**—वह; **अपरा**—अपरा; **शक्तिः**—शक्ति; **कामः**—इच्छा; **बीजम्**—बीज; **महत्**—विकृत चेतना की वृत्ति; **हरेः**—भगवान् की।

(माया के संग की गौण प्रक्रिया का वर्णन हो रहा है।) भगवत्प्रिया चिच्छक्तिरूपा रमादेवी समस्त जीवों की नियतिरूपा हैं। कृष्ण का दिव्य अंश इस भौतिक जगत् की सृष्टि करता है। सृष्टि के समय उस कृष्णांश से जो स्वांश-ज्योति प्रकट होती है, वही भगवान् शम्भुरूप भगवद्-लिंग अर्थात् प्रकटित चिन्ह-विशेष है। वही सनातन ज्योति के धुंधले प्रकाश का आभास है। वह लिंग नियति के वशीभूत भौतिक जगत् के उत्पादक का अंश है। नियति से जो प्रसविनी शक्ति उदित होती है, वही अपरा शक्ति योनिरूपा माया का स्वरूप है। उन दोनों के संयोग से हरि का महत्तत्व-रूप प्रतिफलित कामबीज उत्पन्न होता है।

तात्पर्य

सर्जनात्मक कामयुक्त संकर्षण ही प्रापञ्चिक जगत् के उत्पादन का प्रारंभिक प्रयास करने वाले कृष्णांश हैं। प्रथम पुरुषावतार रूप से कारण

सागर में शयन करते हुए वे माया पर दृष्टिपात करते हैं। ऐसा दृष्टिपात सृष्टि का निमित्त कारण है। लिंग रूपी शम्भु इस दृष्टिपात क्षण से प्रतिफलित होने वाली ज्योति के धुंधले प्रकाश हैं। वही लिंग रमा या योगमाया शक्ति की छायारूपा माया की योनि से संयुक्त होता है। तब महत्तत्वरूप कामबीज का आभास आकर सृष्टिकार्य में प्रवृत होता है। महाविष्णु द्वारा सृष्ट काम के प्रथम प्राकट्य को महत्तत्व कहते हैं। यही प्रजनन क्रिया में मनोरूपी तत्त्व है। सारांश यह है कि *पुरुष* की इच्छा ही निमित्त तथा उपादान का प्रयोग करके सृष्टि करती है। निमित्त है माया या योनि एवं उपादान है शम्भु या लिंग। महाविष्णु पुरुष अर्थात् इच्छामय कर्ता हैं। *प्रधान* भौतिक तत्त्व है। माया आधार है। दोनों का संयोगकारी इच्छामय तत्व ही भौतिक जगत् प्रकटकारी श्री कृष्णांशरूप *पुरुष* है। ये तीनों सृष्टिकर्ता हैं। गोलोक में जो कामबीज है, वह विशुद्ध चिन्मय है और इस भौतिक जगत् में पाया जानेवाला जो कामबीज है, वह दिव्यशक्ति की छाया—काली, इत्यादि है। पहला दूसरे की प्रतिच्छवि होने पर भी उससे दूरवर्ती है। भौतिक कामबीज इस भौतिक जगत् में आदि कामबीज का विकृत प्रतिफलन है। परवर्ती दसवें एवं पन्द्रहवें श्लोकों में शम्भु की उदय-प्रक्रिया का उल्लेख है।

श्लोक ९

लिङ्गयोन्यात्मिका जाता इमा माहेश्वरीप्रजाः।।९।।

लिंग—लिंग; **योनि**—योनि; **आत्मिकाः**—मूर्तिमंत रूप; **जाताः**—जन्म; **इमाः**—ये; **माहेश्वरी**—इस भौतिक जगत् के स्वामी की संगिनी; **प्रजाः**—प्रजा।

इस भौतिक जगत् की समस्त माहेश्वरी प्रजा लिंग-योनि स्वरूपा है।

तात्पर्य

भगवान् की चतुष्पाद-विभूति ही उनका ऐश्वर्य है। उसमें अशोक, अमृत एवं अभय—यह त्रिपाद-विभूति ही वैकुण्ठ एवं गोलोकादि का ऐश्वर्य है। इस मायिक जगत् में देव मानवादि—सब लोकों सहित—मायिक महाऐश्वर्य हैं। ये सब वस्तुएँ उपादान निमित्त भेद से लिंगयोन्यात्मक अर्थात् लिंग-योनि संयोग विधान क्रम से उत्पन्न हैं। जड़-विज्ञान द्वारा जो कुछ सूचना एकत्र हुई है, वह सब इस संयोग स्वभाव से संपन्न है। वृक्ष, लताएँ यहाँ तक कि समस्त जड़ वस्तुएँ भी पुरुष-प्रकृति के संयोगस्वरूप हैं। विशेष तात्पर्य यह है कि यद्यपि 'लिंग', 'योनि' इत्यादि शब्द अश्लील प्रतीत होते हैं, तथापि विज्ञान शास्त्र में ये तत्त्वसूचक शब्द अत्यंत उपादेय एवं अर्थयुक्त हैं। अश्लीलता केवल सामाजिक व्यवहारगत भाव मात्र है, किन्तु विज्ञान तथा परम विज्ञान सामाजिक व्यवहार की अपेक्षा करके सत्य वस्तु को ध्वस्त नहीं कर सकता। अतः जड़ जगत् का मूल तत्त्व जो मायिक कामबीज है, उसे दर्शाने हेतु अनिवार्य रूप से इन शब्दों का प्रयोग किया जाता है। इन शब्दों के व्यवहार द्वारा केवल पुरुष-शक्ति अर्थात् कर्तृ प्रधान क्रिया-शक्ति और स्त्री-शक्ति अर्थात् कर्म प्रधान क्रिया-शक्ति ही समझनी चाहिए।

श्लोक १०

शक्तिमान् पुरुषः सोऽयं लिङ्गरूपी महेश्वरः।
तस्मिन्नाविरभूल्लिङ्गे महाविष्णुर्जगत्पतिः।।१०।।

शक्तिमान्—शक्ति के साथ युक्त; **पुरुषः**—पुरुष; **सः**—वह; **अयम्**—यह; **लिंग रूपी**—लिंग के रूप में; **महेश्वरः**—इस जगत् के ईश्वर, शम्भु; **तस्मिन्**—उसमें; **आविरभूत्**—आविर्भूत; **लिंगे**—लिंग में; **महाविष्णुः**—महाविष्णु; **जगत्-पतिः**—जगत् का स्वामी।

इस भौतिक संसार के उपादानमय पुरुष लिंग रूपी (महेश्वर) शम्भु निमित्तांश माया-रूपी शक्ति से युक्त हैं। जगत्पति महाविष्णु उसमें ईक्षणांश से आविर्भूत होते हैं।

तात्पर्य

चिद् ऐश्वर्यप्रधान परव्योम में श्रीकृष्ण से अभिन्न श्रीनारायण विराजमान हैं। श्री नारायण के चतुर्व्यूह के अन्तर्गत जो महा संकर्षण हैं, वे श्रीकृष्ण के विलास-विग्रह के दिव्य अंश हैं। वे चित्-शक्ति के प्रभाव के एक अंश से सृष्टिकाल में चित्जगत् तथा मायिक जगत् की मध्यवर्ती सीमारूपी विरजा नदी में नित्य शयन करते हुए दूरस्थिता छायारूपी मायाशक्ति पर दृष्टि डालते हैं। फिर द्रव्य शक्तिमय *प्रधान* पति शम्भु, जो चिदीक्षण स्वरूपाभास रूप रुद्र ही हैं, निमित्तांश माया के साथ संभोगरत होते हैं। किन्तु श्रीकृष्ण के साक्षात् चिद्बलरूप महाविष्णु के प्रभाव के बिना वे कुछ भी नहीं कर पाते। अतः महत्तत्व की उत्पत्ति तभी होती है जब कृष्णांश संकर्षण के अंशरूप महाविष्णु आद्यावतार रूप से शिवशक्ति रूपी माया और प्रधानगत उपादान की परस्पर क्रिया-चेष्टा के प्रति अनुकूल होते हैं। महाविष्णु के अनुकूल होने पर शिवशक्ति क्रमशः अहंकार, आकाशादि पंच-भूतों, पंच तन्मात्राओं तथा जीव की मायिक इंद्रियों की सृष्टि करती है। महाविष्णु के किरणकण रूप अंशसमूह ही जीव रूप में उदित होते हैं। इसकी आगे विस्तृत व्याख्या की जायेगी।

श्लोक ११

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
सहस्रबाहुर्विश्वात्मा सहस्रांशः सहस्रसूः।।११।।

सहस्र-शीर्षा—हजारों सिरों वाले; **पुरुषः**—प्रथम पुरुषावतार भगवान् महाविष्णु; **सहस्र-अक्षः**—हज़ारों नेत्रों वाले; **सहस्र-पात्**—हज़ारों पैरों वाले; **सहस्र-बाहुः**—हज़ारों भुजाओ वाले; **विश्व-आत्मा**—विश्व के परमात्मा; **सहस्र-अंशः**—हजारों अवतारों के उद्गम; **सहस्र-सूः**—हज़ारों जीवों के सृष्टिकर्ता।

उन जगत्पति महाविष्णु के हजारों मस्तक, हजारों नेत्र व हजारों भुजाएँ हैं। हजारों अंशों से वे हजारों अवतारों के मूल हैं। वे विश्वात्मा हैं तथा हजारों जीवों के सृष्टिकर्ता हैं।

तात्पर्य

महाविष्णु, जो समस्त वेद-मंत्रों के उपास्य-तत्त्व हैं, असंख्य इंद्रियों एवं शक्तियों से संपन्न हैं। वे समस्त अवतारों के मूल अवतार पुरुष यानी समस्त अवतारों के उद्गम हैं।

श्लोक १२

नारायणः स भगवानापस्तस्मात्सनातनात्।
आविरासीत्कारणार्णो निधिः संकर्षणात्मकः।
योगनिद्रां गतस्तस्मिन् सहस्रांशः स्वयं महान्।।१२।।

नारायणः—नारायण नामक; **सः**—वह; **भगवान्**—भगवान् महाविष्णु; **आपः**—जल; **तस्मात्**—उस; **सनातनात्**—नित्य पुरुष से; **अविरासीत्**—उत्पन्न हुए हैं; **कारण-अर्णः**—कारण समुद्र; **निधिः**—जल विस्तार; **संकर्षण-आत्मकः**—संकर्षण के अंश; **योग-निद्राम् गतः**—योग निद्रा की स्थिति में; **तस्मिन्**—(जल) में; **सहस्र-अंशः**—हजारों अंशों सहित; **स्वयम्**—स्वयं; **महान**—परम व्यक्ति।

वे महाविष्णु ही इस जगत् में नारायण नाम से पुकारे जाते हैं। उन सनातन पुरुष से ही दिव्य कारण समुद्र का असीम जल उत्पन्न हुआ है। परव्योम निवासी संकर्षण के अंश उपर्युक्त सहस्रांश परमपुरुष भगवान् उसमें योग-निद्रा में शयन करते हैं।

तात्पर्य

स्वरूपानंद-रूप आनंद-समाधि को ही योग-निद्रा कहते हैं। पूर्वोक्त रमादेवी ही योगमाया रूप में योगनिद्रा हैं।

श्लोक १३

तद्रोमबिलजालेषु बीजं संकर्षणस्य च।
हैमान्यण्डानि जातानि महाभूतावृतानि तु।।१३।।

तत्—उनका (महाविष्णु का); **रोम-बिलजालेषु**—रोमछिद्रों में; **बीजम्**—बीज; **संकर्षणस्य**—संकर्षण का; **च**—और; **हैमानि**—स्वर्णिम; **अंडानि**—अंडे या बीर्यकण; **जातानि**—जन्म; **महा-भूत**—पंच महाभूतों से; **आवृतानि**-ढके हुए; **तु**—अवश्य।

महाविष्णु के रोमछिद्रों में स्थित संकर्षण के चिद्बीज अनन्त हेमाण्डों के रूप में जन्म लेते हैं। वे हेमाण्ड पंच महाभूतों द्वारा आवृत होते हैं।

तात्पर्य

आध्यात्मिक कारण सागर में शयन करते हुए आद्यावतार इतने बृहत्

हैं कि उनके दिव्य शरीर के रोमछिद्रों से अनंतकोटि ब्रह्माण्ड-बीज उत्पन्न होते हैं। वे सब ब्रह्माण्ड अनंत चिन्मय जगत् के विकृत प्रतिबिम्ब होते हैं। जबतक वे उनके दिव्य शरीर में समाए रहते हैं, तब तक वे चिदाभासरूप सोने के अण्डे के सदृश होते हैं। परन्तु जब वे बाहर आते हैं तो महाविष्णु के सृष्टि-संकल्प के प्रभाव से मायिक निमित्तांश तथा उपादानांशरूप महाभूतों के सूक्ष्मांशों द्वारा आवृत हो जाते हैं। जब महाविष्णु के निश्वासों के साथ वे स्वर्णिम वीर्यकण बाहर आकर माया के असीम प्रकोष्ठ में प्रवेश करते हैं, तो महाभूतों के अमिश्रित रूप द्वारा वे परिवर्द्धित होने लगते हैं।

श्लोक १४

प्रत्यण्डमेवमेकांशादेकांशाद्विशति स्वयम्।
सहस्रमूर्धा विश्वात्मा महाविष्णुः सनातनः।।१४।।

प्रति—प्रत्येक; **अंडम्**—अंडे जैसा विश्व; **एवम्**—इस प्रकार; **एक-अंशात् एक-अंशात्**—उनका एक-एक अंश; **विशति**—प्रवेश करते हैं; **स्वयम्**—स्वयं; **सहस्र-मूर्धा**—हज़ारों सिरों वाला; **विश्व-आत्मा**—विश्व की आत्मा; **महा-विष्णुः**—महाविष्णु; **सनातनः**—नित्य।

वही महाविष्णु फिर प्रत्येक ब्रह्माण्ड में अपने एक-एक अंश से प्रवेश कर जाते हैं। उनका वह प्रत्येक अंश उनकी विभूति है अर्थात् सनातन विश्वात्मा महाविष्णु रूप में सहस्रमस्तकों वाला होता है।

तात्पर्य

आध्यात्मिक कारण-सागर में शयन करते हुए महाविष्णु महासंकर्षण के अंश हैं। वे उन समस्त ब्रह्माण्डों में स्वयं अंशरूप से प्रविष्ट हो जाते हैं। वे प्रत्येक अंश ही गर्भोदकशायी पुरुष को दर्शाते हैं, जो महाविष्णु से अभिन्न हैं। उनको समष्टि-अन्तर्यामी दिव्य मार्गदर्शक भी कहा जाता है।

श्लोक १५

वामांगादसृजद्विष्णुं दक्षिणांगात्प्रजापतिम्।
ज्योतिर्लिंगमयं शम्भुं कूर्चदेशादवासृजत्।।१५।।

वाम-अंगात्—उनके बायें अंग से; **असृजत्**—उन्होंने सृष्ट किया; **विष्णुम्**—भगवान् विष्णु को; **दक्षिण-अंगात्**—अपने दाएँ अंग से; **प्रजापतिम्**—हिरण्यगर्भ ब्रह्मा को; **ज्योतिः लिंग**—दिव्य लिंगरूपी ज्योति; **मयम्**—से गठित; **शम्भुम्**—शम्भु को; **कूर्च देशात्**—दो भौहों के बीच के स्थान से; **अवासृजत्**—उन्होंने सृष्ट किया।

उन्हीं महाविष्णु ने अपने बाएँ अंग से विष्णु की, दाएँ अंग से प्रथम प्रजापति ब्रह्मा की तथा अपनी दोनों भौहों के मध्यभाग से दिव्य ज्योतिर्लिंगमय शम्भु की सृष्टि की।

तात्पर्य

व्यष्टि-अन्तर्यामी क्षीरोदकशायी दिव्य पुरुष ही श्रीविष्णु हैं। भगवदंश हिरण्यगर्भ प्रजापति चतुर्मुख-ब्रह्मा से पृथक् हैं। ये हिरण्यगर्भ ही अनंत ब्रह्माण्डों के प्रत्येक ब्रह्मा के बीजतत्त्व हैं। दिव्य ज्योतिर्लिंगमय शम्भु अपने मूलतत्त्व आदि लिंगरूप शम्भु (जिनके विषय में पीछे कहा गया है) के एक प्रकाशमात्र हैं। विष्णु महाविष्णु के स्वांशतत्त्व हैं, अतएव वे सर्वमहेश्वर हैं; एवं प्रजापति तथा शम्भु महाविष्णु के विभिन्नांश हैं, अतएव वे आधिकारिक देवता-विशेष हैं। चूँकि उनकी निजशक्ति वामांग में रहती

है, अतः विष्णु चिच्छक्ति से महाविष्णु के वामांग में प्रकट होते हैं। विष्णु ही ईश्वर रूप से प्रत्येक जीव के अन्तर्यामी परमात्मा हैं। वेदों में उन भगवान् का परिमाण *अंगुष्ट मात्र* कहा गया है। वे पालनकर्ता हैं। कर्मीजन *यज्ञेश्वर नारायण* के रूप में उनकी पूजा करते हैं और योगीजन समाधि द्वारा अपने व्यक्तित्व को उन *परमात्मा* में लीन कर देना चाहते हैं।

श्लोक १६

अहंकारात्मकं विश्वं तस्मादेतद् व्यजायत।।१६।।

अहंकार—अहंकार; **आत्मकम्**—स्वरूप; **विश्वम्**—विश्व; **तस्मात्**—उनसे (शम्भु से); **एतत्**—यह; **व्यजायत**—उत्पन्न हुआ है।

जीव के संबंध में शम्भु की क्रिया यही है कि उन्हीं शम्भु से यह अहंकारात्मक विश्व उत्पन्न हुआ है।

तात्पर्य

मूलतत्त्व में जो भगवत्तत्त्व है, वह पृथगभिमान-शून्य सर्वसत्वमय है। मायिक जगत् में जो विभिन्नाभिमान रूप जीवों की पृथक् सत्ता उत्पन्न हुई, वह उस शुद्ध सत्ता का ही सीमित मायिक प्रतिफलन है एवं वही आदि शम्भु रूप से रमादेवी के विकार-रूप मायिक योन्यात्मक आधार तत्त्व से मिलता है। उस समय शम्भु केवल द्रव्यव्यूहात्मक उपादान-तत्त्व मात्र ही रहते हैं। जिस समय तत्त्व-विकासक्रम में प्रत्येक ब्रह्माण्ड प्रकाशित होता है, तब भ्रुकुटि देश से उत्पन्न शम्भु तत्त्व में विकास रूप रुद्रतत्त्व भी उदित होता है। तथापि समस्त अवस्थाओं में शम्भुतत्त्व अहंकारात्मक रहता है। परमात्मा की चित् किरण से उदित होकर चित्कण अनंत जीवसमूह जब स्वयं को नित्य भगवत्-दास के रूप में जान लेते हैं तो उनका मायिक

जगत् से कोई संबंध नहीं रहता। तब उन्हें वैकुण्ठ धाम भेज दिया जाता है। किन्तु अपने स्वरूप को भूलकर जब वे माया का भोक्ता बनना चाहते हैं तो अहंकारतत्त्व शम्भु उनकी सत्ता में प्रवेश कर उन्हें पृथक् भोक्तृ-तत्त्व बना देते हैं। अतएव शम्भु ही अहंकारात्मक विश्वरूप एवं जीव के मायिक देहाभिमान के मूल तत्त्व हैं।

श्लोक १७

अथ तैस्त्रिविधैर्वेशैर्लीलामुद्वहतः किल।
योगनिद्रा भगवती तस्य श्रीरिव संगता।।१७।।

अथ—तदनन्तर; **तैः**—उनके साथ; **त्रि-विधैः**—तीन प्रकार के; **वेशैः**—रूपों से; **लीलाम्**—लीला; **उद्वहतः**—करते हुए; **किल**—अवश्य; **योग-निद्रा**—योगनिद्रा; **भगवती**—समाधि के नित्यानंद से पूर्ण; **तस्य**—उनकी; **श्रीः**—लक्ष्मी; **इव**—जैसी; **संगता**—संग किया।

तदनन्तर वही महापुरुष भगवान्, विष्णु, प्रजापति तथा शम्भु के तीन रूपों से भौतिक ब्रह्माण्डों में प्रवेश करके पालन, सृष्टि तथा संहार की लीला करते हैं। यह लीला भौतिक जगत् में जड़-माया के अंतर्गत होती है। अतः उसको तुच्छ जानकर भगवान् के निज-सत्तारूप विष्णु अपनी चिच्छक्ति की अंशभूता स्वरूपानंद-समाधिमयी भगवती योगनिद्रा के साथ संग करना ही श्रेयस्कर समझते हैं।

तात्पर्य

दोनों भगवद् विभिन्नांश, प्रजापति तथा शम्भु, भगवत्तत्व से

पृथकभिमान वश चिच्छक्ति की छायाविशेषरूपा अपरा शक्तियों, क्रमशः सावित्रीदेवी तथा उमादेवी, के साथ विलास करते हैं। भगवान् विष्णु ही चिच्छक्तिरूपा रमा या लक्ष्मी के एकमात्र पति हैं।

श्लोक १८

सिसृक्षायां ततो नाभेस्तस्य पद्मं विनिर्ययौ।
तन्नालं हेमनलिनं ब्रह्मणो लोकमद्भुतम्।।१८।।

सिसृक्षायाम्—जब सृष्टि का संकल्प था; **ततः**—तब; **नाभेः**—नाभि से; **तस्य**—उनकी; **पद्मम्**—कमल; **विनिर्ययौ**—उत्पन्न हुआ; **तत्-नालम्**—उसकी नाल; **हेम-नलिनम्**—स्वर्णिम-कमल के सदृश; **ब्रह्मणः**—ब्रह्मा का; **लोकम्**—लोक; **अद्भुतम्**—अद्भुत।

गर्भोदकशायी विष्णु जब सृष्टि करने की इच्छा करते हैं, तब उनकी नाभि से एक स्वर्ण-कमल उदित होता है। वही नालयुक्त स्वर्ण-कमल ब्रह्मा का निवास स्थान ब्रह्मलोक या सत्यलोक है।

तात्पर्य

यहाँ हेम (स्वर्ण) शब्द का अर्थ है—चिदाभास।

श्लोक १९

तत्त्वानि पूर्वरूढानि कारणानि परस्परम्।
समवायाप्रयोगाच्च विभिन्नानि पृथक् पृथक्।।
चिच्छक्त्या सज्जमानोऽथ भगवानादिपूरुषः।
योजयन्मायया देवो योगनिद्रामकल्पयत्।।१९।।

तत्त्वानि—तत्त्व; **पूर्व-रूढानि**—पूर्व सृष्टि; **कारणानि**—कारण; **परस्परम्**—परस्पर; **समवाय**—मिश्रण की पद्धति; **अप्रयोगात्**—अप्रयोग से; **च**—और; **विभिन्नानि**—विभिन्न; **पृथक् पृथक्**—अलग अलग; **चित्-शक्त्या**—चित्-शक्ति सहित; **सज्जमानः**—संग करते; **अथ**—तब; **भगवान्**—भगवान्; **आदि-पुरुषः**—आदि पुरुष; **योजयन्**—जोड़ते हुए; **मायया**—माया के साथ; **देवः**—देव; **योगनिद्राम्**—योगनिद्रा से; **अकल्पयत्**—संग किया।

एकत्रीकरण से पूर्व पञ्चभूत तत्त्व एक दूसरे से पृथक् पृथक् रूपों में थे। एकत्रीकरण तथा समवाय का अप्रयोग ही उनके पृथक् अस्तित्व का कारण था। दिव्य आदिपुरुष भगवान् महाविष्णु ने अपनी चिच्छक्ति द्वारा माया को क्रियाशील करके समवाय-प्रयोग द्वारा उन पृथक् तत्त्वों को मिलाकर सृष्टि की। तत्पश्चात् वे अपनी चिच्छक्ति को साथ लेकर योगनिद्रा में रत हो गये।

तात्पर्य

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् – "मेरी अध्यक्षता में माया चराचर जगत् को उत्पन्न करती है।" गीता के इस श्लोक का तात्पर्य है कि चिच्छक्ति का विकृत रूप यानी माया पहले निश्चल थी और उसके उपादानांशगत द्रव्य या पंचभूत भी असंयुक्त होने से पृथक्—पृथक् थे। तब कृष्ण की इच्छानुसार माया में निमित्तांश तथा उपादानांश के संयोजित होने के कार्यरूप इस जगत् की उत्पत्ति हुई। ऐसा होने पर भी भगवान् स्वयं चिच्छक्ति रूपा योगनिद्रा में अवस्थान करते रहे। 'योगनिद्रा' या 'योगमाया' शब्दों का निम्नलिखित अर्थ समझना चाहिए :—चिच्छक्ति प्रकाशमय है, जबकि उसकी छाया, माया, जड़ तमोमय है। जब कृष्ण जड़-तमोमय व्यापार में कुछ प्रकाश करने की इच्छा करते हैं, तो वे अपनी चिच्छक्ति

का संयोग अपनी जड़ अचिच्छक्ति से कराते हैं। इसी का नाम है योगमाया। योगमाया में दो प्रकार की प्रतीति है—वैकुण्ठनिष्ठ दिव्य प्रतीति तथा जड़ तमोनिष्ठ प्रतीति। स्वयं श्रीकृष्ण, उनके स्वांश, तथा शुद्ध विभिन्नांश जीव इस कार्य में वैकुण्ठनिष्ठ दिव्य प्रतीति का अनुभव करते हैं जबकि बद्धजीवगण इसमें तमोनिष्ठ प्रतीति का अनुभव करते हैं। जड़ बद्धजीवों की अनुभव-क्रिया में चिद्-अनुभव का जो बाह्य आवरण है, उसी का नाम है योगमाया। यह भी भगवान् की चिच्छक्ति का प्रभाव है। इस विषय की विशद व्याख्या आगे होगी।

श्लोक २०

योजयित्वा तु तान्येव प्रविवेश स्वयं गुहाम्।
गुहां प्रविष्टे तस्मिंस्तु जीवात्मा प्रतिबुध्यते।।२०।।

योजयित्वा—संयोजित होकर; **तु**—तब; **तानि**—उनमें; **एव**—अवश्य; **प्रविवेश**—प्रवेश कर गए; **स्वयम्**—स्वयं; **गुहाम्**—गुहा में; **गुहाम्**—गुहा; **प्रविष्टे**—प्रविष्ट होने के पश्चात्; **तस्मिन्**—उसमें; **तु**—जब; **जीव-आत्मा**—जीवगण; **प्रतिबुध्यते**—जगाये गए।

उन समस्त पृथक्-पृथक् तत्त्वों को संयोजित करने के द्वारा अनंत भौतिक ब्रह्माण्डों को अभिव्यक्त करके उन्होंने प्रत्येक विराट-विग्रह की गुहा में प्रवेश किया। उसी समय प्रलय काल के सोए हुए समस्त जीव जाग उठे।

तात्पर्य

शास्त्रों में अनेक स्थानों पर 'गुहा' शब्द के अनेक अर्थ बताए गये हैं। कुछ स्थानों पर भगवान् की अप्रकट लीलाओं को 'गुहा' कहा गया है। एक अन्य स्थान पर समस्त जीवों की अन्तरात्मा के विश्राम-स्थल को

'गुहा' कहा गया है। कई स्थानों पर प्रत्येक जीव के हृदय के अन्तस्थल को 'गुहा' कहा गया है। मुख्य बात यह है कि सामान्य मनुष्यों की दृष्टि से छिपे हुए स्थान को 'गुहा' कहते हैं। जो जीव पूर्व कल्प में हुए महाप्रलय में ब्रह्मा के जीवन समाप्त होने पर हरि में विलीन हो गए थे, वे सभी अपनी पूर्व सकाम इच्छाओं सहित इस जगत् में पुनः प्रकट हो गए।

श्लोक २१

स नित्यो नित्यसम्बन्धः प्रकृतिश्च परैव सा।।२१।।

सः—वह (जीव); **नित्यः**—नित्य; **नित्य-सम्बन्धः**—नित्य संबंध प्राप्त किए हुए; **प्रकृतिः**—शक्ति; **च**—और; **परा**—आध्यात्मिक; **एव**—अवश्य; **सा**—वह।

वही जीव नित्य है। उसका श्री भगवान् के साथ नित्य संबंध है। वह परा-प्रकृति है।

तात्पर्य

जैसे सूर्य से निकलने वाली असंख्य किरणों का सूर्य से नित्य संबंध होता है, उसी प्रकार परब्रह्म भगवान् जीवों से नित्य युक्त रहते हैं। जीव उनके चित्किरणकण हैं, अतः वे भौतिक पदार्थों की तरह नश्वर नहीं हैं। भगवान् का अंश होने के नाते जीव अल्पांश में भगवद्गुणों से युक्त हैं। इसलिए जीव ज्ञानस्वरूप, ज्ञातृस्वरूप, अहंता-भावस्वरूप, भोक्तृस्वरूप, मंतृस्वरूप एवं कर्तृस्वरूप है। कृष्ण सर्वव्यापी विभु हैं तथा जीव अणु है और उनसे विभिन्न स्वभाव रखते हैं। यही परस्पर भेद-लक्षण है। नित्य संबंध यह है कि भगवान् नित्य प्रभु हैं तथा जीव उनके नित्य दास हैं। भगवत्रस-संबंध में भी जीवों का यथेष्ट अधिकार है। *अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि पराम्*। गीता के इस श्लोक के अनुसार जीव भगवान् की

परा प्रकृति हैं। शुद्ध जीवात्मा के समस्त गुण अपरा-प्रकृतिगत अहंकारादि अष्टगुणों से परे हैं। अतः जीवशक्ति क्षुद्र होते हुए भी अचित् शक्ति माया की अपेक्षा श्रेष्ठ है। माया तथा चित् शक्ति की मध्य-रेखा पर अवस्थित होने के कारण जीवशक्ति का एक अन्य नाम 'तटस्था-शक्ति' भी है। जीव अणु है, अतः माया उसे वशीभूत कर सकती है। किन्तु जीव यदि मायाधीश कृष्ण के शरणागत होकर रहे, तो वह माया के प्रभाव में नहीं आ सकता। अनादि काल से जीवों को माया के जाल में फँसे रहने के कारण ही संसार-क्लेश तथा पुनरावृत्ति में पड़ना होता है।

श्लोक २२

एवं सर्वात्मसम्बन्धं नाभ्यां पद्मं हरेरभूत्।
तत्र ब्रह्माभवद् भूयश्चतुर्वेदी चतुर्मुखः।।२२।।

एवम्—इस प्रकार; **सर्व-आत्म**—सब आत्माओं सहित; **सम्बन्धम्**—संबंधित; **नाभ्याम्**—नाभि से; **पद्मम्**—कमल; **हरेः**—विष्णु की; **अभूत्**—निकला; **तत्र**—वहाँ; **ब्रह्मा**—ब्रह्मा ने; **अभवत्**—जन्म लिया; **भूयः**—फिर से; **चतुर्वेदी**—चार वेदों में निपुण; **चतुर्मुखः**—चार मुखों वाला।

विष्णु की नाभि से जो दिव्य कमल उत्पन्न हुआ, वह सर्वात्मा-सम्बन्ध युक्त है एवं चतुर्वेदी चतुर्मुख ब्रह्मा का उदय-स्थल है।

तात्पर्य

गुहाप्रवेशकारी दिव्य पुरुष से उत्पन्न दिव्य कमल समष्टि जीवाधिष्ठान रूप है। भोगविग्रहरूप चतुर्मुख ब्रह्मा की उत्पत्ति समष्टि जीवात्म-देहाभिमानी हिरण्यगर्भ रूप मूल-ब्रह्मा से होती है। ब्रह्मा का

आधिकारिक देवत्व एवं उनका कृष्ण विभिन्नांशत्व भी स्थापित होता है।

श्लोक २३

सञ्जातो भगवच्छक्त्या तत्कालं किल चोदितः।
सिसृक्षायां मतिं चक्रे पूर्वसंस्कारसंस्कृतः।
ददर्श केवलं ध्वान्तं नान्यत्किमपि सर्वतः।।२३।।

सञ्जातः—जन्म लेने पर; **भगवत्-शक्त्या**—भगवत्-शक्ति से; **तत्-कालम्**—उस समय; **किल**—अवश्य; **चोदितः**—निर्देशित होते हुए; **सिसृक्षायाम्**—सृष्टि की क्रिया हेतु; **मतिम्**—उनका मन; **चक्रे**—मुड़ गया; **पूर्व संस्कार-संस्कृतः**—पूर्व संस्कारों के वेग में; **ददर्श**—उन्होंने देखा; **केवलम्**—केवल; **ध्वान्तम्**—अंधकार; **न**—नहीं; **अन्यत्**—अन्य; **किम् अपि**—कुछ भी; **सर्वतः**—सब दिशाओं में।

कमल के उत्पन्न होने पर ब्रह्मा ने भगवद्-शक्ति से परिचालित होकर पूर्व संस्कारों के अनुसार सृष्टि करने की चेष्टा की। किन्तु वे सब दिशाओं में अंधकार के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं देख पाये।

तात्पर्य

ब्रह्मा की सृष्टि-चेष्टा मात्र उनके पूर्व संस्कारों से ही उत्पन्न होती है। समस्त जीव पूर्वजन्म के संस्कारों के अनुसार ही अपना स्वभाव प्राप्त करते हैं और तदनुसार उनकी क्रिया का प्रारंभ होता है। यही *अदृष्ट* या पूर्व-*कर्मफल* कहलाता है। पूर्व कल्प के कर्मानुसार ही उनकी स्वाभाविक चेष्टाएँ होती हैं। इस प्रकार कुछ योग्य जीव भी ब्रह्मा के पद की प्राप्ति कर सकते हैं।

श्लोक २४

उवाच पुरतस्तस्मै तस्य दिव्या सरस्वती।
कामकृष्णाय गोविन्द हे गोपीजन इत्यपि।
वल्लभाय प्रिया वह्नेर्मन्त्रं ते दास्यति प्रियम्।।२४।।

उवाच—कहा; **पुरतः**—सामने; **तस्मै**—उनसे; **तस्य**—उनका (भगवान् का); **दिव्या**—दिव्य; **सरस्वती**—विद्या की देवी ने; **काम**—काम-बीज (क्लीं); **कृष्णाय**—कृष्ण को; **गोविन्द**—गोविंदाय, गोविन्द; **हे**—हे; **गोपी-जन**—गोपियों के; **इति**—इति; **अपि**—भी; **वल्लभाय**—प्रिय को; **प्रिया वह्नेः**—अग्नि की पत्नी, स्वाहा ('स्वाहा' शब्द सामग्रियाँ अर्पण करते हुए बोला जाता है।); **मन्त्रम्**—मन्त्र; **ते**—आपको; **दास्यति**—देगा; **प्रियम्**—हृदय की इच्छा।

तब भगवान् की दिव्य प्रेयसी, विद्या की देवी, भगवती सरस्वती ने सारी दिशाओं में अंधकार देखने वाले ब्रह्मा से कहा—"हे ब्रह्मा! यह 'क्लीं कृष्णाय गोविंदाय गोपी-जन-वल्लभाय स्वाहा' मंत्र अवश्य ही तुम्हारी अभीष्ट-सिद्धि करायेगा।"

तात्पर्य

कामबीज-संयुक्त अष्टादशाक्षर मंत्र ही सर्वोत्तम है। इसकी दो प्रवृत्तियाँ हैं। एक तो यह कि शुद्ध जीव को यह परमचित्ताकर्षक गोकुलपति एवं गोपीजनवल्लभ श्रीकृष्ण की ओर ले जाता है। यही जीव की चितप्रवृत्ति की पराकाष्ठा है। इस प्रकार साधक जब निष्काम होकर कृष्ण की सेवा हेतु लालायित होता है तो वह अपना मनोभीष्ट फल यानी कृष्ण प्रेम प्राप्त करता है। किन्तु यह सर्वोत्तम मंत्र सकाम साधक को भी अभीष्ट प्रदान करता है। चिन्मय कामबीज गोलोक स्थित पद्म में निहित

है; और जड़ विषयों में प्रतिफलित होकर वही काम-बीज मायिक जगत् की समस्त कामनाओं को भी पूर्ण करता है।

श्लोक २५

तपस्त्वं तप एतेन तव सिद्धिर्भविष्यति।।२५।।

तपः—आध्यात्मिक तपस्या; **त्वम्**—तुम; **तप**—अभ्यास करो; **एतेन**—इससे; **तव**—तुम्हारी; **सिद्धिः**—सिद्धि; **भविष्यति**—होगी।

"अतः हे ब्रह्मा! तुम इस मंत्र के माध्यम से आध्यात्मिक तपस्या का अभ्यास करो; तब तुम्हारे सारे मनोरथ पूर्ण होंगे।"

तात्पर्य

तात्पर्य स्पष्ट है।

श्लोक २६

अथ तेपे स सुचिरं प्रीणन् गोविन्दमव्ययम्।
श्वेतद्वीपपतिं कृष्णं गोलोकस्थं परात्परम्।।
प्रकृत्या गुणरूपिण्या रूपिण्या पर्युपासितम्।
सहस्रदलसम्पन्ने कोटिकिञ्जल्कबृंहिते।।
भूमिश्चिन्तामणिस्तत्र कर्णिकारे महासने।
समासीनं चिदानन्दं ज्योतीरूपं सनातनम्।।
शब्दब्रह्ममयं वेणुं वादयन्तं मुखाम्बुजे।
विलासिनीगणवृतं स्वैः स्वैरंशैरभिष्टुतम्।।२६।।

अथ—तब; **तेपे**—तप किया; **सः**—उस (ब्रह्मा) ने; **सुचिरम्**—लम्बे समय तक;

प्रीणन्—संतुष्टिदायक; **गोविन्दम्**—गोविंद; **अव्ययम्**—अविनाशी; **श्वेतद्वीप-पतिम्**—श्वेतद्वीप के स्वामी; **कृष्णम्**—कृष्ण को; **गोलोक-स्थम्**—गोलोक में स्थित; **परात्-परम्**—सबमें उच्चतम; **प्रकृत्या**—प्रकृति से; **गुण-रूपिण्या**—सर्व मायिक गुणमय; **रूपिण्या**—रूप प्राप्त किए; **पर्युपासितम्**—बाहर से उपासित हुए; **सहस्र-दल-सम्पन्ने**—हजार पंखुड़ियों के कमल पर; **कोटि-किञ्जल्क**—हजारों केशर; **वृंहिते**—वृद्धि हुई; **भूमिः**—भूमि; **चिंतामणिः**—चिंतामणि (जादुई मणि); **तत्र**—वहाँ; **कर्णिकारे**—कर्णिका पर; **महा-आसने**—बड़े आसन पर; **समासीनम्**—बैठे; **चित्-आनंदम्**—चिन्मय आनंद के रूप में; **ज्योतिःरूपम्**—ज्योति का रूप; **सनातनम्**—नित्य; **शब्द-ब्रह्म**—दिव्य शब्द; **मयम्**—से युक्त; **वेणुम्**—बाँसुरी; **वादयन्तम्**—बजाते हुए; **मुख-अम्बुजे**—उनके मुखकमल पर; **विलासिनी-गण**—गोपियों द्वारा; **वृतम्**—घिरे हुए; **स्वैः स्वैः**—अपने अपने; **अंशैः**—अंशों से; **अभिष्टुतम्**—पूजित।

गोविंद को संतुष्टि प्रदान करने के इच्छुक ब्रह्मा ने लम्बे समय तक श्वेतद्वीपाधिपति गोलोकस्थ कृष्ण हेतु तपस्या की। उनकी स्तुति इस प्रकार थी, "गोलोक की चिन्मय भूमि में सहस्र-दल-सम्पन्न तथा कोटि-कोटि केशर द्वारा संवर्धित एक कमल है। उसकी कर्णिका के बीच एक विशाल दिव्य आसन विद्यमान है जिसपर नित्य चिदानंदमय ज्योतिरूप श्रीकृष्ण विराजमान होकर अपने मुखकमल से शब्दब्रह्ममय वंशी बजा रहे हैं। वे अपनी प्रेयसी गोपियों, उनके अपने-अपने अंशों एवं विस्तारों एवं अपनी भौतिकगुणमयी बहिरंगा शक्ति (जो बाहर रहती है) द्वारा भी पूजित हो रहे हैं।"

तात्पर्य

यद्यपि ध्यान का विषय सम्पूर्ण चिन्मय है, तथापि रजोगुण स्वभाववश सत्व-रज-तमोगुणमयी दुर्गादि रूप धारिणी अपरा शक्तिरूपा माया तथा

अन्य अचिच्छक्तियों ने पूज्य भाव से भगवान् कृष्ण का ध्यान किया। जब तक किसी के हृदय में जड़ कामना का लेशमात्र भी हो, उसके लिए मायादेवी (दुर्गा) का उपास्य-तत्त्व ही पूजनीय है। तथापि स्वयं मायादेवी की पूजा न करके उनके उपास्य-तत्व की ही पूजा द्वारा मनोभीष्ट सिद्धि प्राप्त होती है। *अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः। तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्*। श्रीमद्भागवतम् के इस श्लोक का अर्थ यह है कि यद्यपि भगवद्-विभूतिरूप अन्यान्य देवतागण जड़ वरदानों के प्रदायक हैं, तथापि बुद्धिमान व्यक्ति को उनकी पूजा न करते हुए पूर्णशक्तिमान सर्वमंगलकारी श्री भगवान् की दृढ़ भक्ति में ही प्रवृत्त होना चाहिए। इसलिए ब्रह्मा ने मायादेवी के उपास्य-तत्त्वरूप गोलोकनिवासी कृष्ण का ही ध्यान किया। अन्याभिलाषिता शून्या शुद्ध भक्ति ही निष्काम भक्ति है। ब्रह्मा आदि की भक्ति सकाम है। किन्तु सकाम भक्ति में भी एक प्रकार की निष्काम अवस्था होती है। यह इस संहिता के अंतिम पांच श्लोकों में पूर्णतः वर्णित है। पतित आत्माओं हेतु स्वरूप-सिद्धि से पूर्व भजन की यही सुलभ विधि है।

श्लोक २७

अथ वेणुनिनादस्य त्रयीमूर्तिमयी गतिः।
स्फुरन्ती प्रविवेशाशु मुखाब्जानि स्वयम्भुवः।।
गायत्रीं गायतस्तस्मादधिगत्य सरोजजः।
संस्कृतश्चादिगुरुणा द्विजतामगमत्ततः।।२७।।

अथ—तब; **वेणु-निनादस्य**—बाँसुरी की ध्वनि का; **त्रयी-मूर्ति-मयी**—तीन वेदों की माँ; **गतिः**—माध्यम (गायत्री मंत्र); **स्फुरन्ती**—अभिव्यक्त किया जाता; **प्रविवेश**—प्रवेश

किया; **आशु**—शीघ्र; **मुख-अब्जानि**—मुखकमल; **स्वयंभुवः**—ब्रह्मा का; **गायत्रीम्**—गायत्री; **गायतः**—ध्वनित; **तस्मात्**—उनसे (श्रीकृष्ण से); **अधिगत्य**—प्राप्त करके; **सरोज-जः**—कमल से उत्पन्न (ब्रह्मा); **संस्कृतः**—दीक्षित; **च**—और; **आदि-गुरुणा**—आदि गुरु से; **द्विजताम्**—द्विज का पद; **अगमत्**—प्राप्त किया; **ततः**—तत्पश्चात्।

तदनन्तर श्रीकृष्ण की दिव्य वेणु-ध्वनि से प्रकट वेदों की माता गायत्री ब्रह्मा के आठों कानों के माध्यम से स्वजनित ब्रह्मा के मुखकमल में प्रविष्ट हो गईं। श्रीकृष्ण के वेणु-गीत से उत्पन्न गायत्री को प्राप्त करने पर पद्मयोनि ब्रह्मा ने आदिगुरु भगवान् द्वारा दीक्षित होकर द्विजत्व प्राप्त किया।

तात्पर्य

कृष्ण का मुरलीनाद सच्चिदानंदमय ध्वनि है, अतः वेदों का मूल सार उसमें समाया हुआ है। गायत्री एक वैदिक छन्द है। उसमें संक्षिप्त ध्यान तथा प्रार्थना रहती है। कामगायत्री सब गायत्रियों में श्रेष्ठ है क्योंकि उसमें जो ध्यान तथा प्रार्थना है, वह सम्पूर्ण चिद्विलासमय है, जो अन्य किसी गायत्री में नहीं मिलते। अष्टादशाक्षर मंत्र के पश्चात् जिस गायत्री की प्राप्ति होती है, वह काम-गायत्री है और इस प्रकार है—*क्लीं कामदेवाय विद्महे पुष्पबाणाय धीमहि तन्नोऽनंगः प्रचोदयात्।* इस गायत्री में श्रीगोपीजनवल्लभ के परिपूर्ण ध्यान के बाद उनकी लीलाओं का साक्षात्कार एवं दिव्य भगवद्प्रेम की प्राप्ति हेतु प्रार्थना दर्शायी गई है। चित्-जगत् में इससे बढ़कर और उत्कृष्ट रसाश्रित प्रेम-चेष्टा नहीं है। जैसे ही यह गायत्री ब्रह्मा के कानों में प्रविष्ट हुई, वे द्विज बन गए एवं गायत्री का गान करने लगे। जिस जीव ने इस गायत्री का तत्त्वतः लाभ लिया है, उसका पुनः आध्यात्मिक जन्म हुआ है। इस भौतिक जगत् के जड़-बद्ध जीवों को उनके मायिक स्वभाव एवं वंशानुसार जो द्विज आध्यात्मिक (चित्) वह दिव्य जगत् में प्रवेशरूपी द्विजत्व की अपेक्षा अति नगण्य गोलोक के विषय में दीक्षित होने के फलस्वरूप दिव्य जन्म को पाना जीव की परम-महिमा है क्योंकि उसके द्वारा जीव को चिन्मय जगत् की प्राप्ति होती है।

श्लोक २८

त्रय्या प्रबुद्धोऽथ विधिर्विज्ञाततत्त्वसागरः।
तुष्टाव वेदसारेण स्तोत्रेणानेन केशवम्।।२८।।

त्रय्या—तीन वेदों के मूर्तिमान स्वरूप से; **प्रबुद्धः**—प्रबुद्ध होकर; **अथ**—तब; **विधिः**—ब्रह्मा; **विज्ञात**—से परिचित; **तत्त्व-सागरः**—सत्य का समुद्र; **तुष्टाव**—पूजा की; **वेद-सारेण**—जो समस्त वेदों का सार है; **स्तोत्रेण**—स्तुतियों से; **अनेन**—इस; **केशवम्**—श्रीकृष्ण की।

त्रिवेदमयी गायत्री के स्मरण द्वारा प्रबुद्ध होकर ब्रह्मा सत्यसागर से परिचित हो गए। तब उन्होंने समस्त वेदों के सार स्वरूप श्रीकृष्ण की इस प्रकार स्तुति की।

तात्पर्य

ब्रह्मा ने अपने मन में इस प्रकार सोचा, "*काम-गायत्री* के स्मरण द्वारा मुझे प्रतीत हो रहा है कि मैं कृष्ण की नित्य दासी हूँ।" यद्यपि कृष्ण-दासत्व के अन्य गूढ़ रहस्यों की अभिव्यक्ति उनपर नहीं हुई थी, तथापि अपनी अन्वेषणी आत्म-चेतना के कारण वे सत्य के सागर से भलीभाँति परिचित हो गए। उनमें समस्त वेदवाक्यों की स्फूर्ति होने लगी तथा उन अखिल वेदों के सार-वाक्यों द्वारा वे भगवान् श्रीकृष्ण की यह स्तुति करने

लगे। श्रीमान महाप्रभु ने अपने प्रिय शिष्यों को यह स्तोत्र सिखाया है क्योंकि यह वैष्णव दर्शन के समस्त दिव्य सिद्धांतों से परिपूर्ण है। पाठकों से निवेदन है कि वे नित्य दैनिक क्रिया के रूप में इसका अध्ययन करें एवं अत्यंत ध्यान तथा यत्नपूर्वक इस स्तोत्र की आत्मा में पहुँचने का प्रयास करें।

श्लोक २९

चिन्तामणिप्रकरसद्मसु कल्पवृक्ष-
लक्षावृतेषु सुरभीरभिपालयन्तम्।
लक्ष्मीसहस्रशतसम्भ्रमसेव्यमानं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।।२९।।

चिंतामणि—चिंतामणि; **प्रकर**—समूह; **सद्मसु**—भवनों में; **कल्प-वृक्ष**—कल्प-वृक्ष; **लक्ष**—लाखों; **आवृतेषु**—घिरे हुए; **सुरभीः**—सुरभी गाएँ; **अभिपालयन्तम्**—चराते हैं; **लक्ष्मी**—लक्ष्मी; **सहस्र**—हजारों; **शत**—कई सौ; **संभ्रम**—प्रगाढ़ आदर सहित; **सेव्यमानम्**—सेवित होते; **गोविंदम्**—गोविंद को; **आदिपुरुषम्**—आदि पुरुष; **तम्**—उनको; **अहम्**—मैं; **भजामि**—भजन करता हूँ।

मैं उन आदिपुरुष भगवान् गोविंद का भजन करता हूँ, जो लाखों कल्पवृक्षों से घिरे हुए चिंतामणिसमूह से निर्मित भवनों में कामधेनु गायों का पालन करते हैं एवं जो असंख्य लक्ष्मियों अथवा गोपियों द्वारा सदैव प्रगाढ़ आदर और प्रेम सहित सेवित हैं।

तात्पर्य

चिंतामणि का अर्थ है 'चिन्मय रत्न'। जिस प्रकार माया इस भौतिक

जगत् को पाँच जड़ तत्वों से बनाती है, उसी प्रकार आध्यात्मिक (चित्) शक्ति ने चिन्मय रत्नों द्वारा आध्यात्मिक जगत् को बनाया है। गोलोक के परम प्रभु के धाम के निर्माण में जो चिंतामणि प्रयुक्त होती है, वह पारस-पत्थर से भी कहीं अधिक दुर्लभ एवं सार्थक होती है। कल्प-वृक्ष केवल धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के फल प्रदान करते हैं, परन्तु कृष्ण के धाम के कल्प-वृक्ष दिव्य-प्रेम रूपी अनगिनत फल अर्पित करते हैं। काम-धेनु (इच्छाओं को पूर्ण करने वाली गाय) दुहे जाने पर ही दूध देती है परन्तु गोलोक की काम-धेनुएँ प्रेम के फव्वारे के रूप में ऐसे दूध के सागर छलकाती हैं जो शुद्ध भक्तों की सम्पूर्ण भूख-प्यास को मिटा देने वाले चिन्मय आनंद की बौछार करते हैं। *'लक्ष'* एवं *'सहस्र शत'* शब्द अनन्त संख्यावाचक हैं। *'सम्भ्रम'* या *'सादर'* शब्द प्रेमपरिपूरित का सूचक है। यहाँ 'लक्ष्मी' से 'गोपी' अभिप्रेत है। आदिपुरुष का अर्थ है जो आदि प्रभु हैं।

श्लोक ३०

वेणुं क्वणन्तमरविन्ददलायताक्षं
बर्हावतंसमसिताम्बुदसुन्दराङ्गम्।
कन्दर्पकोटिकमनीयविशेषशोभं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।।३०।।

वेणुम्—बाँसुरी; **क्वणन्तम्**—बजाते; **अरविंद-दल**—कमल की पंखुड़ियों जैसी; **आयत**—खिली हुई; **अक्षम्**—जिनकी आँखे हैं; **बर्ह**—मोरपंख; **अवतंसम्**—जिनके मस्तक का शृंगार है; **असित-अम्बुद**—नीले बादलों (की छटा से युक्त); **सुंदर**—सुंदर; **अंगम्**—जिनका शरीर; **कंदर्प**—कामदेवों की; **कोटि**—करोड़ों; **कमनीय**—लुभावनी; **विशेष**—

विशेष; **शोभम्**—जिनकी शोभा है; **गोविन्दम्**—गोविंद का; **आदि पुरुषम्**—आदि पुरुष; **तम्**—उन; **अहम्**—मैं; **भजामि**—भजन करता हूँ।

जो वेणु बजाने में दक्ष हैं, कमल की पंखुड़ियों जैसे जिनके प्रफुल्ल नेत्र हैं, जिनका मस्तक मोरपंख से आभूषित है, जिनके अंग नीले बादलों जैसे सुंदर हैं और जिनकी विशेष शोभा करोड़ों कामदेवों को भी लुभाती है, उन आदिपुरुष भगवान् गोविंद का मैं भजन करता हूँ।

तात्पर्य

गोलोक के स्वामी, कृष्ण की अतुलनीय शोभा का वर्णन हो रहा है। सर्वव्यापी कृष्ण का अपना एक आध्यात्मिक रूप है। कृष्ण का रूप जगत् की सुंदर वस्तुओं को देख कर बनाई गई कोई कल्पना नहीं है। ब्रह्मा ने शुद्ध भक्ति की आनंदमयी ध्यानावस्था में जो कुछ देखा, उसी का वर्णन हो रहा है। कृष्ण अपनी बाँसुरी बजा रहे हैं। वह बाँसुरी उनकी जादूभरी सुरीली तान के द्वारा सारे जीवों का चित्त हरण करती है। जिस प्रकार कमल की पंखुड़ी सुखदायक दृश्य उत्पन्न करती है, उसी प्रकार हमारी आध्यात्मिक दृष्टि को प्रकाशित करने वाले कृष्ण के दो सुंदर नेत्र उनके मुखचंद्र के असीम वैभव तथा सुंदरता को प्रदर्शित करते हैं। उनके सिर पर मोरपंख की सुंदरता सुशोभित है, जो उनके अनुरूप आध्यात्मिक सौंदर्य को दर्शाती है। जैसे नीले बादलों का झुंड एक विशेष शांतिदायक स्निग्ध दृश्य उत्पन्न करता है, उसी प्रकार कृष्ण की अंग-कांति भी चिन्मय श्यामल है। कृष्ण का सौन्दर्य एवं विलक्षणता करोड़ों कामदेवों से भी कहीं अधिक मोहक है।

श्लोक ३१

आलोलचन्द्रकलसद्वनमाल्यवंशी-
रत्नाङ्गदं प्रणयकेलिकलाविलासम्।
श्यामं त्रिभङ्गललितं नियतप्रकाशं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।।३१।।

आलोल—हिल रहा है; **चंद्रक**—चंद्र का ताबीज; **लसत्**—सुंदर; **वन-माल्य**—वन फूलों की माला; **वंशी**—बाँसुरी; **रत्न-अंगदम्**—रत्न-जटित आभूषणों से शोभित; **प्रणय**—प्रेम की; **केलि-कला**—लीलाओं में; **विलासम्**—जो सदैव मग्न रहते हैं; **श्यामम्**—श्यामसुंदर; **त्रिभंग**—तीन स्थानों पर मुड़े हुए; **ललितम्**—सौम्य; **नियत**—नित्य; **प्रकाशम्**—प्रकाशित; **गोविंदम्**—गोविंद को; **आदि पुरुषम्**—आदि पुरुष; **तम्**—उन; **अहम्**—मैं; **भजामि**—भजन करता हूँ।

जिनके गले में चंद्रक से शोभित वनमाला झूम रही है, जिनके दोनों हाथ वंशी तथा रत्न-जड़ित बाजूबंदों से सुशोभित हैं, जो सदैव प्रेम-लीलाओं में मग्न रहते हैं, जिनका ललित त्रिभंग श्यामसुंदर रूप नित्य प्रकाशमान है, उन आदिपुरुष भगवान् गोविंद का मैं भजन करता हूँ।

तात्पर्य

चिंतामणि प्रकर से प्रारंभ हुए श्लोक में गोविंद के चिन्मय धाम तथा चिन्मय नाम का, *वेणुं क्वणन्तम्* से प्रारंभ हुए श्लोक में गोविंद के चिन्मय नित्य सुंदरतम रूप का, एवं प्रस्तुत श्लोक में गोविंद के चौंसठ-गुण स्वरूप केलि-विलास का वर्णन है। मधुर रस के वर्णन-क्षेत्र में आनेवाले समस्त विद् व्यापार गोविंद के इसी प्रणयकेलि-विलास के अंतर्गत हैं।

श्लोक ३२

अङ्गानि यस्य सकलेन्द्रियवृत्तिमन्ति
पश्यन्ति पान्ति कलयन्ति चिरं जगन्ति।
आनन्दचिन्मयसदुज्ज्वलविग्रहस्य
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।।३२।।

अंगानि—अंग; **यस्य**—जिनके; **सकल-इंद्रिय**—सारी इंद्रियों की; **वृत्ति-मन्ति**—वृत्तियों से युक्त; **पश्यन्ति**—देखते हैं; **पान्ति**—पालन करते हैं; **कलयन्ति**—प्रकट करते हैं; **चिरम्**—नित्य; **जगन्ति**—ब्रह्माण्ड; **आनंद**—आनंद; **चित्**—सत्य; **मय**—पूर्ण; **सत्**—वास्तविकता; **उज्ज्वल**—तेज से युक्त; **विग्रहस्य**—जिनका विग्रह है; **गोविंदम्**—गोविंद को; **आदिपुरुषम्**—आदि पुरुष; **तम्**—उन; **अहम्**—मैं; **भजामि**—भजन करता हूँ।

जिनका दिव्य श्रीविग्रह आनंद, चिन्मयता तथा सत् से पूरित होने के कारण परमोज्ज्वल है, जिनके चिन्मय शरीर का प्रत्येक अंग अन्यान्य सभी इंद्रियों की पूर्ण-विकसित वृत्तियों से युक्त है, जो चिरकाल से आध्यात्मिक एवं भौतिक दोनों जगतों को देखते, पालन करते तथा प्रकट करते हैं, उन आदिपुरुष भगवान् गोविंद का मैं भजन करता हूँ।

तात्पर्य

आध्यात्मिक वस्तुओं का स्वाद पाने की लालसा से भौतिक ज्ञान द्वारा बँधे लोगों के मन में एक गम्भीर संदेह उठता है। कृष्ण की लीलाओं को सुनकर वे सोचते हैं कि कृष्ण-संबंधित तत्व किन्हीं विद्वान् पंडितों का मनगढंत विचार है, जिसे उन्होंने अपने कल्पना-पूर्ण मस्तिष्कों द्वारा भौतिक सिद्धांतों पर आधारित विषय-वस्तु से बनाया है। इस अनर्थजनक संदेह

को दूर करने के अभिप्राय से ब्रह्मा इस श्लोक तथा परवर्ती तीन श्लोकों में चित् एवं जड़ का तात्त्विक विभेद स्थापित करने के पश्चात्, कृष्ण की समाधि प्राप्त शुद्ध लीला को समझाने का यत्न करते हैं। ब्रह्मा कहना चाहते हैं कि कृष्ण का विग्रह सर्व-सत्, सर्व-चित् एवं सर्व-आनंद है, जबकि सारे सांसारिक अनुभव स्पष्टतः अज्ञान से पूर्ण हैं। यद्यपि दोनों के बीच विशिष्ट भेद है, तथापि आधारभूत सत्य यही है कि परमस्रोत आध्यात्मिक व्यापारों से युक्त होता है। उसमें विशिष्टताएँ तथा विविधताएँ नित्य वर्तमान रहती हैं। उनसे कृष्ण का दिव्य धाम, रूप, नाम, गुण और लीलाएँ प्रतिष्ठित होती हैं। केवलमात्र शुद्ध-चिद्बुद्धिसंपन्न एवं मायासंबंधरहित व्यक्ति ही कृष्ण की इन प्रेममयी लीलाओं को सराह सकते हैं। लीलाओं का केन्द्र, चिद्धाम चित्-शक्ति द्वारा प्रकाशित चिंतामणि-निर्मित लीलापीठ, एवं कृष्ण की आकृति—ये सभी चिन्मय हैं। जिस प्रकार माया आध्यात्मिक शक्ति का विकृत प्रतिफलन है, उसी प्रकार माया द्वारा निर्मित विविधताएँ चिन्मय विविधताओं का विकृत प्रतिफलन हैं। इसलिए इस भौतिक जगत् में चिन्मय विविधता का केवल धुँधला सा चित्र ही दिखता है। इस समानता के होते हुए भी दोनों एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। जड़ पदार्थ की अपूर्णता उसका दोष है, किन्तु चेतन पदार्थ में त्रुटि एवं दोषरहित विविधता है। कृष्ण का शरीर तथा आत्मा एक ही हैं, जबकि पतित जीवों का शरीर एवं आत्मा एक नहीं होते। आध्यात्मिक क्षेत्र में देह एवं देही के मध्य, अंग एवं अंगी के मध्य, गुण एवं गुणी के मध्य कोई भेद नहीं होता। परन्तु यह भेद बद्धजीवों में निश्चित रूप से पाया जाता है। कृष्ण अंगों से युक्त अवश्य हैं, किन्तु उनका प्रत्येक अंग एक पूर्ण अस्तित्व है। वे अपने प्रत्येक अंग से नाना प्रकार के दिव्य आध्यात्मिक कार्य संपन्न करते हैं। इसलिए वे एक अखंड पूर्ण चित्तत्त्व हैं। जीवात्मा तथा कृष्ण, दोनों

चित् स्वरूप हैं। अतः वे एक ही श्रेणी में आते हैं। किन्तु उनमें अंतर यही है कि जीव में चिन्मय गुण सूक्ष्मातिसूक्ष्म मात्रा में होते हैं जबकि कृष्ण में वे पूर्ण रूप से विद्यमान रहते हैं। वे गुण जीव में अपनी स्वाभाविक मात्रा में तब प्रकट होते हैं जब जीव अपना शुद्ध चित्स्वरूप प्राप्त कर लेता है। जीव पूर्ण की इस निकटतम स्थिति में तभी पहुँचता है जब कृष्ण की कृपा से उसमें ह्लादिनी शक्ति का आध्यात्मिक बल प्रकट होता है। तथापि कृष्ण अपने किन्हीं विशेष गुणों के कारण सर्व-उपास्य बने रहते हैं। जीवों के विषय में तो कहना ही क्या, वैकुण्ठ के स्वामी नारायण या प्रथम पुरुष-अवतारों या शिव-सदृश सर्वोच्च देवताओं तक में ये चार अस्पर्धित गुण अभिव्यक्त नहीं होते।

श्लोक ३३

अद्वैतमच्युतमनादिमनन्तरूपम्
आद्यं पुराणपुरुषं नवयौवनं च।
वेदेषु दुर्लभमदुर्लभमात्मभक्तौ
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।।३३।।

अद्वैतम्—अद्वितीय; **अच्युतम्**—कभी क्षय न होने वाले; **अनादिम्**—बिना किसी प्रारंभ के; **अनंत-रूपम्**—जिनका रूप अनंत है, या जिनके अनंत रूप हैं; **आद्यम्**—आदि; **पुराण-पुरुषम्**—सबसे प्राचीन पुरुष; **नव-यौवनम्**—नवयुवक; **च**—भी; **वेदेषु**—वेदों में; **दुर्लभम्**—अप्राप्य; **अदुर्लभम्**—प्राप्य होने में कठिन नहीं; **आत्म-भक्तौ**—आत्मा की शुद्ध भक्ति के द्वारा; **गोविंदम्**—गोविंद को; **आदि-पुरुषम्**—आदि पुरुष; **तम्**—उन; **अहम्**—मैं; **भजामि**—भजन करता हूँ।

जो वेदों के लिए दुर्लभ हैं किन्तु आत्मा की विशुद्ध भक्ति द्वारा सुलभ हैं, जो अद्वैत हैं, अच्युत हैं, अनादि हैं, जिनका रूप अनंत है, जो सबके आदि हैं तथा प्राचीनतम पुरुष होते हुए भी नित्य नवयुवक हैं, उन आदिपुरुष भगवान् गोविंद का मैं भजन करता हूँ।

तात्पर्य

अद्वैत का अर्थ है—"अखंड सत्य, जो कि पूर्णतम ज्ञान" है। अनंत ब्रह्म उनकी अंगकांति है और परमात्मा उनका अंश है। फिर भी वे एक एवं अविभाज्य रहते हैं। *अच्युत* का अर्थ है कि यद्यपि अनेकानेक अवतार उनके स्वांश से और अनेकानेक जीव उनके विभिन्नांश से निस्सृत होते हैं, तथापि वे पूर्ण की पराकाष्ठा स्वरूप नित्य अछूते रहते हैं। यद्यपि वे जन्मादि लीलाओं को दर्शाने में प्रवृत होते हैं, तथापि उनका कोई प्रारंभ नहीं है। यद्यपि वे लीला-समाप्ति पर अप्रकट हो जाते हैं, तथापि वे नित्य हैं। यद्यपि वे अनादि हैं, तथापि उनका प्रारम्भ उनकी प्राकट्य-लीला है। यद्यपि वे निश्चित रूप से सनातन हैं, तथापि वे नवयौवन-युक्त किशोर हैं। मूल तात्पर्य यही है कि यद्यपि वे विविध एवं देखने में परस्पर-विरोधी गुणों से युक्त हैं, तथापि ये गुण उनकी अचिन्त्य शक्ति के प्रभाव से विश्वव्यापी सुव्यवस्थित सामंजस्य में स्थित रहते हैं। जड़ तत्त्व की तुलना में *चिद्-धर्म* का यही अर्थ है। उनका सौम्य मुरलीधर त्रिभंग रूप नित्य नवयौवनसंपन्न है तथा सीमित काल और स्थान की अपूर्णताओं से परे है। चिन्मय जगत् में भूत या भविष्य नहीं है अपितु शुद्ध एवं अपरिवर्तनीय वर्तमान ही है। वहाँ वस्तु तथा उसके गुण के बीच कोई भेद नहीं होता। वहाँ सीमित भौतिक जगत् में पाया जाने वाला कोई चिन्ह नहीं होता। इसलिए वे गुण, जो काल तथा स्थान के द्वारा सीमित होने

वाली भौतिक कल्पना के कारण परस्पर-विरोधी दिखाई देते हैं, आध्यात्मिक जगत् में रुचिकर एवं शुद्ध-सुंदर समत्व-रूप में पाए जाते हैं। जीव किस प्रकार इस अभूतपूर्व अस्तित्व का अनुभव कर सकता है? जीव की सीमित बुद्धि-वृत्ति काल तथा स्थान के प्रभाव से दूषित होने के कारण अपनी परिमिति को लाँघने की स्थिति में नहीं होती। और यदि बुद्धि की शक्ति भी चिन्मय ज्ञान तक नहीं पहुँच सकती, तो फिर और क्या चारा हो सकता है? उत्तर में ब्रह्मा कहते हैं कि चिन्मय परम-तत्त्व वेदों के लिए भी अगम्य है। वेद शब्द से उत्पन्न होते हैं एवं शब्द भौतिक आकाश में उत्पन्न होता है। अतः वेद हमारे समक्ष चिन्मय जगत् (गोलोक) का प्रत्यक्ष दृश्य प्रकट नहीं कर सकते। जब वेद चित्-शक्ति से पूरित होते हैं, तभी वे दिव्य को किंचित् समझा सकते हैं। परन्तु गोलोक स्वयं को उस प्रत्येक जीव के समक्ष प्रदर्शित करता है जो चित्-शक्ति की ह्लादिनी शक्ति-सारयुक्त संवित् शक्ति से प्रभावित होता है। भक्ति की ह्लादिनी वृत्ति असीम है एवं शुद्ध चिन्मय ज्ञान से भरपूर है। वह ज्ञान भक्ति से एकात्म होकर 'गोलोक-तत्त्व' (सर्वोच्च चिन्मय तत्त्व) प्रदर्शित करता है। वह ज्ञान स्वयंसिद्ध नहीं अपितु शुद्ध भक्ति का सहायक होता है।

श्लोक ३४

पन्थास्तु कोटिशतवत्सरसम्प्रगम्यो
वायोरथापि मनसो मुनिपुङ्गवानाम्।
सोऽप्यस्ति यत्प्रपदसीम्न्यविचिन्त्यतत्त्वे
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।।३४।।

पन्थाः—मार्ग; **तु**—किन्तु; **कोटि-शत**—हजारों लाखों; **वत्सर**—वर्ष; **सम्प्रगम्यः**—तक व्याप्त; **वायोः**—वायु के; **अथापि**—या; **मनसः**—मन के; **मुनि-पुंगवानाम्**—अग्रगण्य ज्ञानियों के; **सः**—वह (मार्ग); **अपि**—केवलमात्र; **अस्ति**—है; **यत्**—जिनके; **प्रपद**—अंगूठे; **सीम्नि**—के अग्रभाग तक; **अविचिन्त्य तत्त्वे**—भौतिक विचार से परे; **गोविंदम्**—गोविंद को; **आदि-पुरुषम्**—आदि पुरुष; **तम्**—उनको; **अहम्**—मैं; **भजामि**—भजन करता हूँ।

चिन्मयता को प्राप्त करने के इच्छुक योगियों के प्राणायामादि वायु-निरोधात्मक योग-पथ से अथवा निर्भेद ब्रह्मानुसंधान करने वाले श्रेष्ठ ज्ञानियों के भौतिक त्याग द्वारा ज्ञान-पथ से, शत-कोटि वर्षों तक साधन करने पर भी जिनके चरणारविन्द के अग्रभाग तक ही पहुँच हो पाती है, उन आदिपुरुष भगवान् गोविंद का मैं भजन करता हूँ।

तात्पर्य

शुद्ध भक्ति के अनुभव द्वारा ही गोविंद के चरणकमलों की प्राप्ति संभव है। अष्टांग-योगी हजारों लाखों वर्षों तक समाधि के अभ्यास द्वारा कैवल्य (अद्वय स्थिति का अनुभव) प्राप्त करते हैं। और इतने ही समय तक चिद्-अचिद् में भेद करके एवं नेति-नेति के सूत्र द्वारा मायिक वस्तुओं का एक के बाद एक त्याग करके अद्वैतवादीजन भगवान् के निर्विशेष ब्रह्म-रूप में समा जाते हैं। किन्तु ये दोनों ही कृष्ण के चरणकमलों के बाहरी प्रदेश मात्र हैं, स्वयं चरणकमल नहीं हैं। कैवल्य या ब्रह्म में लीन होना भौतिक जगत् एवं चिन्मय जगत् के मध्य विभाजन की रेखा है। जब तक हम उसके परे नहीं उतरते, तब तक चिन्मय जगत् की विविधताओं के स्वाद से हम वंचित रहेंगे। ये अवस्थाएँ मायिक संबंध-जनित दुखों का

अभाव-मात्र हैं, किन्तु वास्तविक आनंद नहीं हैं। यदि दुख-निवृत्ति को सुख का लेश कहा भी जाये तो वह सुख का लेश बहुत छोटा एवं निरर्थक है। वह भौतिक परिस्थिति का विनाश करने में अपर्याप्त है। जीव का वास्तविक लाभ उसका आत्म-ज्ञान की स्थिति में नित्य अस्तित्व है। यह एकमात्र शुद्ध भक्ति की कृपा से प्राप्त किया जाता है, जो आवश्यक रूप से 'चित्' या दिव्य है। इसे पाने हेतु जटिल एवं नीरस मनोधर्मी चिंतन किसी काम का नहीं।

श्लोक ३५

एकोऽप्यसौ रचयितुं जगदण्डकोटिं
यच्छक्तिरस्ति जगदण्डचया यदन्तः।
अण्डान्तरस्थपरमाणुचयान्तरस्थं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।।३५।।

एकः—एक; **अपि**—यद्यपि; **असौ**—वह; **रचयितुम्**—रचना करने के लिए; **जगत्-अण्ड**—ब्रह्माण्ड के; **कोटि**—करोड़ों; **यत्**—जिनकी; **शक्तिः**—शक्ति; **अस्ति**—है; **जगत्-अण्ड-चयाः**—सारे ब्रह्माण्ड; **यत्-अंतः**—जिनके अंदर; **अंड-अंतर-स्थ**—जो सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त हैं; **परम-अणु-चय**—परमाणु; **अंतर-स्थम्**—भीतर स्थित; **गोविंदम्**—गोविंद को; **आदि-पुरुषम्**—आदि पुरुष; **तम्**—उन; **अहम्**—मैं; **भजामि**—भजन करता हूँ।

जो शक्ति एवं शक्तिमान् में अभिन्नता होने के कारण निर्भेद एक तत्त्व हैं, जिनके द्वारा करोड़ों ब्रह्माण्डों की सृष्टि होने पर भी जिनकी शक्ति उनसे पृथक् नहीं है, जिनमें सारे ब्रह्माण्ड स्थित हैं एवं जो साथ ही साथ ब्रह्माण्डों के भीतर रहने वाले परमाणु-

समूह के भी भीतर पूर्ण रूप से विद्यमान हैं, उन आदिपुरुष भगवान् गोविन्द का मैं भजन करता हूँ।

तात्पर्य

कृष्ण सर्वोच्च तत्त्व हैं। उनमें एक तत्व, जो कि चित् (आध्यात्मिक) कहा जाता है, सीमा से परे है। वे इच्छा होने पर अपनी अचिन्त्य शक्ति से अनगिनत ब्रह्माण्ड बना सकते हैं। सारे भौतिक ब्रह्माण्डों का स्रोत उनकी बहिरंगा शक्ति के परिवर्तन में है। उनका धाम मानवीय कल्पना से परे है, क्योंकि सारे जगत—भौतिक अथवा आध्यात्मिक (चित्)—उन्हीं में होते हैं और वे साथ ही साथ उन ब्रह्माण्डों के अंतर्गत प्रत्येक परमाणु में भी पूर्ण रूप से विराजमान रहते हैं। सबके स्वामी, श्रीकृष्ण की सर्वव्यापकता उनका स्थानीय ऐश्वर्य मात्र है एवं सर्वव्यापक होते हुए भी मध्यमाकार सर्वत्र पूर्णरूप में अवस्थान करना उनका लोकातीत चिदैश्वर्य है। यह तर्क अचिन्त्य भेदाभेद सिद्धांत का समर्थन करता है एवं मायावाद तथा उस जैसे दूषित सिद्धांतों को पछाड़ देता है।

श्लोक ३६

यद्भावभावितधियो मनुजास्तथैव
सम्प्राप्य रूपमहिमासनयानभूषाः।
सूक्तैर्यमेव निगमप्रथितैः स्तुवन्ति
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।।३६।।

यत्—जिनके लिए; **भाव**—भक्ति से; **भावित**—पूरित; **धियः**—जिनके हृदय; **मनुजाः**—मनुष्य; **तथा एव**—उसी प्रकार; **सम्प्राप्य**—प्राप्त करने के पश्चात्; **रूप**—सुंदरता; **महिमा**—महिमा; **आसन**—आसन; **यान**—वाहन; **भूषाः**—एवं आभूषण;

सूक्तैः—वैदिक मंत्रों द्वारा; **यम्**—जिनका; **एव**—निश्चित रूप से; **निगम**—वेदों द्वारा; **प्रथितैः**—कथित; **स्तुवन्ति**—स्तुति करते हैं; **गोविन्दम्**—गोविंद को; **आदिपुरुषम्**—आदि पुरुष; **तम्**—उन; **अहम्**—मैं; **भजामि**—भजन करता हूँ।

भाव-भक्ति से भावित हृदय वाले मनुष्य अपने उपयुक्त रूप, महिमा, आसन, वाहन तथा आभूषणों को प्राप्त करके वेद-कथित मंत्र-सूक्तों द्वारा जिनकी स्तुति करते हैं, उन आदिपुरुष भगवान् गोविंद का मैं भजन करता हूँ।

तात्पर्य

रस-वर्णन में हमें पाँच प्रकार की भक्ति या सेवाओं का पता चलता है—शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य और शृंगार भाव की सेवाएँ।

अपने अपने सिद्ध भावानुरूप भक्तगण कृष्ण की नित्य सेवा करते हैं, तथा अंत में अपने भाव के लक्ष्य तक पहुँच जाते हैं। उनको अपने विशिष्ट रस में महिमा, वाहन, तदुचित सेवापीठ तथा अपने वास्तविक रूप के समृद्धिकारी दिव्य गुणों एवं वेशभूषा-भूषणादि के योग्य आत्मा के वास्तविक स्वभाव की प्राप्ति होती है। जो शांत रस के अधिकारी हैं, वे नित्य शांतिपीठरूप ब्रह्म-परमात्मा के क्षेत्र को प्राप्त करते हैं। दास्य रस के अधिकारी श्री नारायण के आध्यात्मिक ऐश्वर्यमय वैकुण्ठ लोक को जाते हैं एवं सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य रस के अधिकारी वैकुण्ठ से भी ऊपर गोलोक-धाम को प्राप्त करते हैं। उन स्थानों पर वे वेदों में वर्णित सूक्तों द्वारा अपने अपने रस के उपयुक्त उपकरणों से कृष्ण की स्तुति करते हैं। चिद्-शक्ति से प्रभावित होने के कारण वेद कुछ छंदों में भगवद् लीला का वर्णन करते हैं। उसी चिच्छक्ति से मार्गदर्शन प्राप्त करके मुक्त जीव भगवान् के नाम, गुण एवं लीलाओं का गायन करते हैं।

श्लोक ३७

आनन्दचिन्मयरसप्रतिभाविताभिस्
ताभिर्य एव निजरूपतया कलाभिः।
गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतो
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।।३७।।

आनंद—आनंद; **चित्**—और ज्ञान; **मय**—से पूरित; **रस**—रस; **प्रति**—प्रत्येक क्षण; **भविताभिः**—जो भावित रहते हैं; **ताभिः**—जिनके साथ; **यः**—जो; **एव**—निश्चित रूप से, **निज-रूपतया**—अपने रूप के साथ; **कलाभिः**—जो उनकी ह्लादिनी शक्ति के अंश हैं; **गोलोके** —गोलोक वृंदावन में; **एव**—निश्चित रूप से; **निवसति**—निवास करते हैं; **अखिल-आत्म**—सबकी आत्मा जैसे; **भूतः**—जो रहते हैं; **गोविंदम्**—गोविंद को; **आदिपुरुषम्**—आदि पुरुष; **तम्**—उन; **अहम्**—मैं; **भजामि**—भजन करता हूँ।

जो अपने धाम गोलोक में अपनी स्वरूप शक्ति, चौंसठ कलायुक्त ह्लादिनीरूपा श्रीराधा तथा उनके ही शरीर की विस्तार-रूपा उनकी सखियों के साथ निवास करते हैं जो कि उनके नित्य आनंदमय चिन्मय रस से स्फूर्त एवं पूरित रहती हैं, उन आदिपुरुष भगवान् गोविंद का मैं भजन करता हूँ।

तात्पर्य

यद्यपि भगवान् एवं उनकी शक्ति एक ही हैं, तथापि वे राधा और कृष्ण तत्त्व रूप में नित्य पृथक् रहते हैं। ह्लादिनी शक्ति तथा चिन्मय प्रभु श्रीकृष्ण, दोनों में अचिन्त्य-गुण संपन्न 'शृंगार रस' रहता है। इसके *विभाव* के दो विभाग होते हैं : आलम्बन तथा उद्दीपन। इन दोनों में से आलम्बन के फिर दो प्रकार होते हैं : आश्रय तथा विषय। आश्रय स्वयं

राधिका और उनके स्वरूप से विस्तार-रूपा उनकी सखियाँ एवं विषय स्वयं श्रीकृष्ण हैं। कृष्ण गोलोक के स्वामी, गोविंद हैं। गोपियाँ उस रस का प्रतिरूप आश्रय हैं। उनके साथ कृष्ण गोलोक में नित्य लीलाओं में प्रवृत्त होते हैं। *निज रूपतया* का अर्थ है—ह्लादिनी शक्तिवृत्ति के द्वारा प्रकाशित कलाओं से युक्त। चौंसठ कलाएँ निम्नलिखित हैं :—(१) *गीत* (२) *वाद्य*—वाद्ययंत्र बजाने की कला (३) *नृत्य* (४) *नाट्य* (५) *आलेख्य*—चित्रांकन (६) *विशेष कच्छेद्य*—रंगों से मुख तथा देह पर शृंगार की कला (७) *तंडुल-कुसुम-बलि-विकार*—चावल तथा फूलों से अल्पना बनाने की कला (८) *पुष्पास्तरण*—फूलों की शैया बनाने की कला (९) *दशन-वसनांग-राग*—दाँत तथा वस्त्र साफ करने तथा शरीर को चित्रित करने हेतु मिश्रण लगाने की कला (१०) *मणि-भूमिका-कर्म*—मणियों का आधार बनाने की कला (११) *शैया-रचन*—शैया बनाने की कला (१२) *उदक-वाद्य*—पानी में संगीत बजाने की कला (१३) *उदक-घात*—पानी उलीचने की कला (१४) *चित्र-योग*—रंगों को मिलाने की कला (१५) *माल्य-ग्रथन-विकल्प*—मालाएँ गूँथने की कला (१६) *शेखरापीड़-योजन*—सिर पर मुकुट लगाने की कला (१७) *नेपथ्य-योग*—विश्रामगृह में सजाने की कला (१८) *कर्णपात्र भंग*—कान को सजाने की कला (१९) *सुगंध-युक्ति*—सुगंध लगाने की कला (२०) *भूषण-योजन*—आभूषण बनाने या पहनने की कला (२१) *ऐंद्र-जाल*—जादू दिखाने की कला (२२) *कौचुमार*—एक प्रकार की कला (२३) *हस्त-लाघव*—हाथों की मुद्राएँ बनाने की कला (२४) *चित्र-शाकापूप-भक्ष्य-विकार-क्रिया*—नाना प्रकार के सलाद, रोटी तथा स्वादिष्ट व्यंजन बनाने की कला (२५) *पानक-रस-रागासव योजन*—लाल रंग से स्वादिष्ट पेयों को बनाने की कला (२६) *सूची-वाय-कर्म*—बुनाई-कढ़ाई की कला (२७) *सूत्र-क्रीड़ा*—धागों से खेलने की कला (२८) *वीणा-डमुरक-वाद्य*—वीणा तथा

डमरू बजाने की कला (२९) *प्रहेलिका-प्रतिमाला*— पहेलियाँ जताने तथा श्लोकों को यथानुसार स्मृति से दोहराने की कला (३०) *दुर्वचक-योग*—अकाट्य भाषा बोलने की कला (३१) *पुस्तक-वाचन*—पुस्तकों को बोल कर पढ़ने की कला (३२) *नाटिकाख्यायिका-दर्शन*—लघु नाटकों तथा प्रसंगों को प्रस्तुत करने की कला (३३) *काव्य-समस्या-पूरण*—काव्य के कठिन श्लोकों का समाधान करने की कला (३४) *पट्टिका-वेत्र-बाण-विकल्प*—ढाल, लाठी तथा तीर बनाने की कला (३५) *तर्कु-कर्म*—सूत कातने की कला (३६) *तक्षण*—बढ़ईगिरी की कला (३७) *वास्तु-विद्या*—यांत्रिकी की कला (३८) *रौप्य-रत्न-परीक्षा* —चाँदी तथा रत्नों की परीक्षा करने की कला (३९) *धातु-वाद*—धातु बनाने की कला (४०) *मणि-राग-ज्ञान*—मणियाँ बजाने की कला (४१) *आकर-ज्ञान*—खनिजों की कला (४२) *वृक्षायुर्वेद-योग*—जड़ी-बूटियों से इलाज करने की कला (४३) *मेष-कुक्कुट-लावक-युद्ध-विधि*—भेड़ों, मुर्गों तथा पक्षियों के लड़ने के ढंग का ज्ञान होने की कला (४४) *शुक-शारिका-प्रपालन (प्रलापन)?*—नर-मादा तोतों का पालन तथा उनका वार्तालाप समझने की कला (४५) *उत्सादन*—सुगंधियों से व्यक्ति को साफ करने अथवा इलाज करने की कला (४६) *केश-मार्जन-कौशल*—बाल काढ़ने की कला (४७) *अक्षर-मुष्टिक-कथन*—अक्षरों तथा अंगुलियों से बात करने की कला (४८) *म्लेच्छित-कुतर्क-विकल्प*—जंगली या विदेशी कुतर्क की कला (४९) *देश-भाषा-ज्ञान*—प्रांतीय भाषाओं को जानने की कला (५०) *पुष्प-शकटिका-निर्मिति-ज्ञान*—आकाशवाणी द्वारा भविष्यवाणी जानने या फूलों से खिलौना-गाड़ी बनाने की कला (५१) *यंत्र-मातृका* —मिस्त्री की कला (५२) *धारण-मातृका*—नाबीजों के प्रयोग की कला (५३) *समवाय्य*—कथोपकथन करने की कला (५४) *मानसी-काव्य-क्रिया*—मन में कविता रचने की कला (५५) *क्रिया-*

विकल्प—साहित्य या औषधि बनाने की कला (५६) *छलितक-योग*—अपने नाम के अनुरूप धर्म-स्थान बनाने की कला (५७) *अभिधान-कोष-छंदो-ज्ञान*—अभिधान कोष एवं छंदों को जानने की कला (५८) *वस्त्रगोपन*-वस्त्रों को छुपाने की कला (५९) *द्यूत-विशेष*—विशेष प्रकार का जुआ खेलने की कला (६०) *आकर्ष-क्रीड़ा*—पाँसा या चुंबक से खेलने की कला (६१) *बालक-क्रीड़नक*—बच्चों के खिलौनों का उपयोग करने की कला (६२) *वैनायिकी-विद्या*—अनुशासन लागू करने की कला (६३) *वैजयिकी विद्या*—विजय पाने की कला (६४) *वैतालिकी-विद्या*—स्वामी को संगीत द्वारा नींद से उठाने की कला।

ये समस्त विद्याएँ मूर्तिमती होकर रस-प्रकरण रूप से गोलोक में नित्य प्रदर्शित होती हैं तथा जड़ जगत् में वे चित्-शक्ति योगमाया के द्वारा ब्रज लीलाओं में भी *निर्बाध* रूप से प्रदर्शित होती हैं। इसीलिए श्री रूप गोस्वामी कहते हैं, *सदानंतैः.. संति ताह*, अर्थात् गोलोक में अपनी अनंत-लीला-प्रकाश के साथ कृष्ण सर्वदा शोभा पाते हैं। कभी कभी उन लीलाओं का प्रकाशान्तर इस भौतिक धरातल पर भी होता है। परम प्रभु श्री हरि अपने समस्त उपकरणों सहित अपने जन्म की लीला भी करते हैं। दिव्य लीला-शक्ति कृष्ण की इच्छा के अनुरूप उनके पार्षदों के हृदयों को उपयुक्त चिन्मय भावनाओं से भर देती है। भौतिक धरातल पर दिखने वाली लीलाएँ उनकी 'प्रकट' लीलाएँ होती हैं। वही सब लीलाएँ अप्रकट रूप से भौतिक ज्ञान-क्षेत्र से परे गोलोक में भी होती हैं। अपनी प्रकट लीलाओं में कृष्ण गोकुल, मथुरा एवं द्वारका में पधारते हैं। जो लीलाएँ उन तीन स्थानों में अप्रकट रहती हैं, वे वृंदावन के अपने चिन्मय क्षेत्र में प्रकट रहती हैं।

उपर्युक्त निष्कर्षों से यह स्पष्ट होता है कि प्रकट तथा अप्रकट लीलाओं में कोई भेद नहीं है। जीवगोस्वामी ने इस श्लोक पर अपनी टीका में, तथा *उज्ज्वल-नीलमणि* और *कृष्ण-संदर्भ* में भी बताया है कि "कृष्ण की प्रकट लीलाएँ उनकी चित्-शक्ति (योगमाया) से बनी हैं। भौतिक क्रिया-निर्देश से युक्त होने के कारण उनमें कुछ लक्षण माया के प्रभाव से सत्य लगते हैं; परन्तु चिन्मय वास्तविकता में वे नहीं पाए जा सकते। दैत्यों का विनाश, गोपियों से अवैध संबंध, जन्म इत्यादि इस विलक्षणता के नमूने हैं। गोपियाँ भगवान् की ह्लादिनी शक्ति का विस्तार होती हैं, इसलिए वे निर्विवाद रूप से उन्हीं की हैं। तो फिर उनके साथ अवैध संबंध का प्रश्न ही कहाँ उठता है? गोपियों का यह परदारत्व का संबंध प्रकट लीला में दिखता है, परन्तु यह चिन्मय सत्य का मायिक प्रतिफलन है।" श्री जीवगोस्वामी के शब्दों का गूढ़ार्थ, प्रकट होने पर, पाठकों के हृदय में कोई संशय नहीं छोड़ेगा। श्री जीव-गोस्वामी हमारे तत्त्वाचार्य हैं। अतः वे सर्वदा श्री रूप एवं सनातन के प्रभाव में रहते हैं। इसके अतिरिक्त श्री जीव कृष्ण की लीलाओं की मंजरियों में से एक हैं। अतएव वे सारे अप्राकृत सत्यों से सुपरिचित हैं।

कुछ लोग उनके वाक्यों का गूढ़ार्थ न समझ पाने के कारण अपने मनगढंत अर्थ लगाते हैं तथा अनावश्यक विवादों में पड़ते हैं। श्री रूप और सनातन के अनुसार प्रकट तथा अप्रकट लीलाओं में कोई भी वास्तविक अथवा आवश्यक अंतर नहीं है; अंतर मात्र यही है कि एक भौतिक जगत् में प्रकट हैं तथा दूसरी प्रकट नहीं हैं। पारलौकिक जगत् में दर्शन तथा दर्शक में संपूर्ण विशुद्धता है। कोई विशिष्ट सौभाग्यशाली व्यक्ति जब कृष्ण की कृपा प्राप्त करता है, तो वह सांसारिक बाधाओं तथा संबंधों को तोड़ कर साधन काल में विभिन्न रसों का अनुभवी स्वाद लेने के पश्चात् चिन्मय क्षेत्र में पहुँचता है। और एकमात्र वही व्यक्ति गोलोक

की आदर्श एवं संपूर्ण विशुद्ध लीला का दर्शन व आस्वादन कर सकता है। ऐसा ग्रहणशील स्वभाव बड़ा दुर्लभ है। भौतिक जगत् में रहने वाला व्यक्ति भी सेवा के सिद्ध होने पर कृष्ण की कृपा से 'चिद्-रस' का आस्वादन कर सकता है। ऐसा व्यक्ति गोलोक की लीला को भौम गोकुल की लीला में देख सकता है। सत्य के साधक इन दो अधिकारियों के मध्य अवश्य ही अंतर है। जब तक किसी को पूर्ण चिन्मय स्तर की प्राप्ति (वस्तु-सिद्धि) नहीं हो जाती, तब तक वह गोलोक की लीलाओं का दर्शन करने में अपनी सीमित क्षमताओं के कारण अवश्य ही बाधित होता है। फिर, चिन्मय सत्य का दर्शन आत्मसाक्षात्कार के स्तर के अनुरूप होता है। उसी के अनुसार गोलोक के दर्शन (स्वरूप-सिद्धि) में भी बदलाव होता है।

नितांत सांसारिकता में अत्यधिक आसक्त बद्धजीव ही भक्ति-चक्षु-शून्य होते हैं। उनमें से कुछ माया की विविधता में फँसे रहते हैं और अन्य भगवद्-बहिर्मुख ज्ञान के प्रभाव में आकर आत्म-हनन की आशा करते हैं। संभव है कि वे परम प्रभु की भूमि पर प्रकट लीलाओं का दर्शन कर पाएँ किन्तु चिन्मय-भाव-रहित होने के कारण उनकी उन लीलाओं के प्रति भौतिक धारणा ही बन पाती है। अतएव गोलोक का अनुभव व्यक्ति की आत्मसाक्षात्कार द्वारा अर्जित योग्यता के अनुपात में होता है। आधारभूत सिद्धांत यही है कि गोकुल यद्यपि गोलोक जितना ही पवित्र तथा शुद्ध है, तथापि वह भौतिक धरातल पर चित्-शक्ति योगमाया के प्रभाव से प्रकाशित होता है। चिन्मय क्षेत्रों की प्रकट अथवा अप्रकट मामलों में कोई मायिक अशुद्धता, हेयता अथवा सीमाओं के संसार में स्वाभाविक असंपूर्णता नहीं होती; केवल द्रष्टा जीव के दृष्टिकोण से अधिकारानुसार वह कुछ कुछ पृथक् प्रतीत होती है। अपवित्रता, अपूर्णता, विजातीयता,

भ्रम, अविद्या, अशुद्धता, घोर अपर्याप्तता, तुच्छता, जड़ता—ये जो नेत्र, बुद्धि, मन तथा बद्ध जीवात्माओं के भौतिक स्वभाव से ग्रसित अहंकार को प्रतीत होते हैं—इनका लेशमात्र भी चिन्मय के अनिवार्य स्वभाव में नहीं होता। इन दोषों से जितना अधिक कोई स्वतंत्र होता है, उतना ही अधिक वह परम को अनुभव करने में सक्षम होता है। शास्त्रों द्वारा प्रकाशित सत्य अशुद्धता से मुक्त होता है। किन्तु इस सत्य के ज्ञान का दोषपूर्ण अथवा दोषरहित अनुभव विभिन्न साधकों को उनके अपने अनुभव के अनुरूप होता है।

उपर्युक्त चौंसठ कलाएँ अपनी शुद्ध वास्तविकता में केवल गोलोक में ही पाई जाती हैं। उन कलाओं में साधकों के आत्म-ज्ञान के अनुपात में अपूर्णता, महत्वहीनता एवं जड़ता पाई जाती है। श्रील रूप एवं श्रील सनातन के मतानुसार गोकुल में प्रदर्शित समस्त लीलाएँ अपने पूर्ण शुद्ध एवं माया-गंध-शून्य रूप में गोलोक में प्रदर्शित होती हैं। अतः दिव्य निरंकुश परदारत्व विचाराधीन अचिन्त्य रूप से गोलोक में भी होता है। चित्-शक्ति योगमाया की समस्त अभिव्यक्तियाँ शुद्ध होती हैं। अतः परदारत्व योगमायाकृत होने के कारण अवश्य ही दूषण से रहित तथा शुद्धतत्त्वमूलक होता है।

वह शुद्ध तत्त्व क्या है?, अब इस पर विचार किया जाए। श्री रूप गोस्वामी कहते हैं, *पूर्वोक्त... सारतः*। इन श्लोकों पर गहन विचार के पश्चात् श्रीपाद जीव गोस्वामी ने दिव्य परदारत्व को 'विभ्रम-विलास' के रूप में स्थापित किया है। योगमाया द्वारा सम्पादित जन्म आदि लीलाओं की तरह वह नहीं है, जैसा कि देखने में लगता है।

तथापि... व्रज-वनितानाम् की व्याख्या द्वारा श्रील रूप गोस्वामी ने गम्भीर आशय व्यक्त किया है। योगमाया की युक्ति, *विभ्रम-विलास*, यानी,

'दोष के दिखावे द्वारा सुखमय लीला' को रूप और सनातन ने भी अपने अंतिम कथनों में स्वीकार किया है। तथापि, जब श्रीपाद जीव गोस्वामी ने गोलोक तथा गोकुल का एकत्व निरूपित कर दिया है, तो यह स्वीकार करना ही होगा कि गोकुल की समस्त लीलाओं में एक दिव्य सत्य है। पति वह है जो किसी स्त्री से विवाह-संबंध में बँध जाए, जबकि उप-पति वह है जो किसी दूसरे की स्त्री का प्रेम प्राप्त करने हेतु उस स्त्री के प्रेम को अपना सर्वस्व मानते हुए नैतिकता की सब रीतियों का उल्लंघन करता हो। गोलोक में विवाह-संबंध जैसी कोई क्रिया नहीं। अतः वहाँ इस संबंध का सूचक पतित्व भी नहीं। दूसरी ओर, चूँकि गोपियाँ वास्तविक स्वावलम्बी तत्त्व हैं, वे किसी अन्य से विवाह-बंधन में नहीं बँधतीं और न ही किसी की उप-पत्नी की तरह रहती हैं। वहाँ स्वकीया या परकीया स्थितियों के रूप में पृथक् तत्त्व भी नहीं हो सकते। भौतिक धरातल पर प्रकट लीलाओं में विवाह संबंध रहता है किन्तु कृष्ण उस क्रिया से परे हैं। अतः योगमाया माधुर्यमण्डल रूपी युक्ति रचाती है। कृष्ण उस क्रिया का उल्लंघन कर चिन्मय परकीया रस का आस्वादन करते हैं। योगमाया द्वारा घटित धर्म-उल्लंघन की इस लीला को भौतिक धरातल पर उन्हीं नेत्रों द्वारा देखा जा सकता है जो भौतिकता से ढँके हों, किन्तु वास्तव में कृष्ण लीलाओं में वैसा कोई ओछापन नहीं होता। परकीया रस निःसंदेह सर्व-रस-निर्यास है। यदि यह कहा जाए कि वह गोलोक में नहीं होता, तो यह गोलोक का अपमान होगा। यह सत्य नहीं है कि रस का परम पूर्णास्वादन गोलोक के परमोच्च क्षेत्र में नहीं होता। समस्त अवतारों के स्रोत कृष्ण, एक ही रस का गोलोक तथा गोकुल में भिन्न-भिन्न प्रकार से आस्वादन करते हैं। अतः भौतिक नेत्रों द्वारा पर-स्त्री गमन रूपी धर्म-उल्लंघन दिखने पर भी उसका सत्य किसी न किसी रूप में गोलोक में भी होता है।

आत्मरामोऽपि अरीरमत्, आत्मन्यव-रुद्धसौरतः, रेमे व्रज-सुंदरीभिर्यथार्भकः प्रतिबिंब-विभ्रमः इत्यादि शास्त्र वाक्यों द्वारा प्रतीत होता है कि आत्मारामता ही कृष्ण का निज-धर्म है। कृष्ण अपने ऐश्वर्यमय चित्-जगत् में अपनी आत्मशक्ति का लक्ष्मी के रूप में प्रकाश करके उनके साथ विवाहित संगिनी के रूप में रमण करते हैं। वहाँ स्वकीया भाव प्रबल होने के कारण रस केवल दास्य-रस तक ही विस्तारित हो पाता है। किन्तु गोलोक में वे अपनी आत्म-शक्ति को हजारों गोपियों में बाँटकर एवं स्वकीया-विस्मृतिपूर्वक उनके साथ नित्य प्रेम लीलाओं में रमण करते हैं। स्वकीय-अभिमान (स्वामित्व का भाव) होने से रस की अत्यंत-दुर्लभता नहीं रहती। इसलिए गोपियाँ स्वाभाविक रूप तथा अनादि काल से दूसरों की पत्नियों के अन्तर्भाव में रहती हैं। कृष्ण भी, उस भाव की प्रतिक्रिया हेतु, 'उप-पत्य' अभिमान स्वीकार करके बंशी की मदद से रासादि प्रेम लीलाएँ करते हैं। गोलोक मायिक विचारों से परे आत्म-ज्ञान के रस का चिन्मय पीठ है; अतः गोलोक में परकीया रस प्रवाह सिद्ध होता है।

ऐश्वर्य के सिद्धांत का स्वभाव है कि वैकुण्ठ धाम में अवतारी के प्रति कोई वात्सल्य रस भी नहीं है। परन्तु परम माधुर्यमय गोलोक में उस रस के मूल भाव का अहंकार मात्र होता है। वहाँ नंद और यशोदा तो होते हैं, किन्तु जन्म नहीं होता। जन्म होने के अभाव में नंद-यशोदा का जो पितृ-मातृत्वादि भाव होता है, वह वास्तविक नहीं अपितु अभिमान मात्र होता है। जैसे, *जयति जन-निवासो देवकी-जन्म-वादः* इत्यादि। तथापि, रस-सिद्धि हेतु अंगीकार किया हुआ उनका यह अभिमान नित्य होता है। इसी प्रकार यदि मधुर रस में उप-स्त्री तथा उप-पति का अहंभाव नित्य अंगीकृत माना जाए, तो उसमें कोई दोष नहीं है एवं वह शास्त्र-विरुद्ध भी नहीं है। जब गोलोक के वे चिन्मय तत्त्व व्रज में प्रकट होते हैं तो

के मध्य कोई भेद नहीं होता अथवा होता है। परकीय का सार स्वकीय-निवृति है एवं स्वकीय-सार परकीय-निवृत्ति के रूप में स्वरूपशक्ति-रमण अर्थात् विवाह-विधि-शून्य रमण है। वहाँ ये दोनों एक रस होकर दोनों के वैचित्र्यों के आधार रूप में विराजमान रहते हैं। गोकुल में भी वही रस होता है। अंतर मात्र यही होता है कि वह जड़ जगत् के दर्शकों को भिन्न प्रतीत होता है। गोलोक के नायक गोविंद में धर्माधर्मशून्य पतित्व तथा उपपतित्व दोनों निर्मल रूप में रहते हैं। यही स्थिति गोकुल के नायक के साथ भी होती है, यद्यपि योगमाया के प्रभाव से उसके अनुभव में भिन्नता होती है। अगर यह कहा जाए कि योगमाया द्वारा प्रकाशित सत्य ही चित्-शक्तिकृत होने के नाते परम सत्य है, अतः उप-पतित्व का भाव भी यथावत् सत्य है, तो इसका उत्तर यह है कि अपराधरहित रस-आस्वादन के अनुरूप अहंभाव का प्रभाव हो सकता है क्योंकि वह सत्य के आधार से विहीन नहीं है। किन्तु जड़ बुद्धि से जो हेय-प्रतीति हो, वह अपराध है और इसलिए शुद्ध चित्-जगत् में वह नहीं रह सकता। वस्तुतः श्रीपाद जीव गोस्वामी ने सही सिद्धांत दिया है एवं साथ ही साथ प्रतिपक्ष का सिद्धांत भी अचिन्त्य रूप से सही है। परन्तु स्वकीय-वाद तथा परकीय-वाद को लेकर वृथा जड़ विवाद मिथ्या एवं दिखावटी शब्द-जाल से परिपूर्ण है। श्रीपाद जीव गोस्वामी तथा प्रतिपक्ष की टीकाओं का निरपेक्ष निर्णय लेने वाले व्यक्ति के समक्ष कोई वास्तविक संशयात्मक विवाद नहीं रहेगा। परम भगवान् के शुद्ध भक्त जो भी कहें, वह सत्य तथा पक्ष-प्रतिपक्ष से स्वतंत्र होता है। तथापि उनकी मौखिक बहस में रहस्य का पुट रहता है। मायिक बुद्धि वाले लोग, शुद्ध भक्ति के अभाव के कारण, शुद्ध भक्तों के बीच प्रेम-कलहों के भाव में न उतर पाने से पक्ष-विपक्षगत दोषों का आरोपण [illegible] करते हैं। [illegible] के *योगीनाम् नृप-पतीनाम्* इ. आदि

उपर्युक्त दो अहंभाव भौतिक जगत् की प्रापंचिक दृष्टि में किंचित औ
अधिक स्थूल हो जाते हैं। इतना ही भेद होता है। वात्सल्य रस में नं
और यशोदा के माता-पिता होने का अभिमान कृष्ण जन्मादि लीलाओं
और अधिक स्थूल प्रतीत होता है एवं शृंगार रस में गोपियों के उप-स्त्री
होने का भाव स्थूल रूप में, अभिमन्यु गोवर्धन इत्यादि के साथ विवाहों
प्रतीत होता है। वास्तव में, गोलोक या गोकुल में, कहीं पर भी गोपिय
के पतित्व जैसा कोई पृथक् तत्त्व है ही नहीं। अतः शास्त्र यह आख्या
करते हैं कि गोपियों का उनके पतियों के साथ कोई शारीरिक संबंध नहीं
होता। इसी कारण से रस तत्त्व के प्रामाणिक आचार्य श्री रूप लिखते
कि उज्ज्वल रस में दो प्रकार का नायक होता है—विवाहित पति तथा उप
पति। *पतिश्चोपतिश्चेति प्रभेदाव इह विश्रुताव् इति*। श्री जीव अपनी टीक
में *पतिः पुरवनितानाम् द्वितीयो व्रजवनितानाम्* शब्दों द्वारा गोलोक में कृष्ण
का नित्य उप-पतित्व एवं वैकुण्ठ-द्वारकादि में कृष्ण का पतित्व स्वीकार
करते हैं। गोलोकनाथ तथा गोकुलनाथ में उप-पति लक्षण संपूर्ण रूप
देखा जा सकता है। कृष्ण द्वारा अपने ही गुण आत्मारामत्व का अतिक्रमण
पर-पत्नी-मिलन की इच्छा हेतु होता है। गोपियों में पर-पत्नी अभिमान का
हेतु भी वही है। वास्तव में स्वतंत्र या पृथक्-सत्तायुक्त उनके कोई पति
नहीं होते, फिर भी उनका अहंभाव उनको यह सोचने देता है कि वह
अन्यों की विवाहिता पत्नियाँ हैं। इस तरह समस्त लक्षण जैसे, *'उपपति
द्वारा मर्यादा उल्लँघन करने की इच्छा'* इत्यादि पूर्ण-सुस्वादन के पीठ
गोलोक में नित्य वर्तमान रहते हैं। व्रज में वही लक्षण जड़ नेत्रों वाले
व्यक्तियों के प्रति किंचित स्थूलाकार रूप से स्वयं को अभिव्यक्त करते हैं

तो गोलोक में परकीय तथा स्वकीय रसों में अचिन्त्य भेद एवं अभे
होता है। यह समान सत्ता से कहा जा सकता है कि गोलोक में दोनों

अचिन्त्य तत्त्व है। चिन्तन द्वारा अचिन्त्य को खोजने का प्रयत्न भूसे को पीटने जैसा निरर्थक परिश्रम या निष्फल चेष्टा होगी। अतः सभी का यह परम कर्तव्य है कि वे ज्ञान के प्रयास को छोड़ कर शुद्ध भक्ति के अभ्यास से अप्राकृत का अनुभव करने का प्रयत्न करें। ऐसा कोई भी मार्ग जिसके द्वारा अंत में निर्विशेष प्रभाव की उत्पत्ति हो, निश्चित रूप से परित्याज्य है। मायातीत शून्य विशुद्ध परकीया-रस अतिदुर्लभ है। इसी को गोकुल की लीलाओं में वर्णित किया गया है। उसका ही अवलम्बन करके रागानुगा भक्तगणों को साधन करना चाहिए। सिद्धि काल में उन्हें और अधिक उपादेय मूल-तत्त्व प्राप्त होगा। सांसारिक बद्ध जीवों द्वारा सम्पादित अवैध स्त्री-संग से युक्त भक्तिमयी क्रियाएँ प्रतिबंधित भौतिक पाप हैं। हमारे संत श्रीपाद जीव गोस्वामी जी का हृदय ऐसे व्यवहारों से बहुत दुखी होता था। इसी कारण से उन्होंने इस विषय पर अपने निष्कर्ष दिए हैं। शुद्ध वैष्णवों का यह कर्तव्य है कि वे उनके कथनों का वास्तविक भाव ग्रहण करें। आचार्य की अवमानना करना तथा उनके विरोध में किसी भिन्न मत की स्थापना करने की चेष्टा करना बहुत बड़ा अपराध है।

श्लोक ३८

प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन
सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति।
यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।।३८।।

प्रेम—प्रेम; **अंजन**—काजल; **छुरित**—रञ्जित; **भक्ति**—भक्ति की; **विलोचनेन**—आँखों से; **संतः**—शुद्ध भक्त; **सदा**—सब समय; **एव**—वास्तव में; **हृदयेषु**—अपने हृदयों में;

की भक्ति भाव-भक्ति के स्तर को प्राप्त करता है तो भक्त के शुद्ध नेत्र कृष्ण की कृपा से प्रेम से रञ्जित हो जाते हैं, जिससे वह कृष्ण को साक्षात् देख सकता हैं। *'अपने हृदयों में'* का अर्थ है कि कृष्ण भक्ति के अभ्यास से प्राप्त हृदय की शुद्धता के अनुपात में दिखते हैं। इस श्लोक का सार यह है कि कृष्ण का विग्रह, जो कि श्यामसुंदर, नटवर (सवश्रेष्ठ नर्तक) मुरलीधर (मुरली बजाने वाला) और त्रिभंग (तीन स्थानों से मुड़ा हुआ है, वह कोई मनगढंत नहीं अपितु चिन्मय है एवं भक्त की आत्मा के नेत्रों से समाधि की अवस्था में दिखता है।

श्लोक ३९

रामादिमूर्तिषु कलानियमेन तिष्ठन्
नानावतारमकरोद् भुवनेषु किन्तु।
कृष्णः स्वयं समभवत्परमः पुमान् यो
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।।३९।।

राम-आदि—राम अवतार, आदि; **मूर्तिषु**—विभिन्न रूपों में; **कला-नियमेन**—कलाओं के रूप में; **तिष्ठन्**—रहते हुए; **नाना**—विभिन्न; **अवतारम्**—अवतार; **अकरोत्**—लिया है; **भुवनेषु**—भुवनों में; **किन्तु**—किन्तु; **कृष्णः**—श्रीकृष्ण भगवान्; **स्वयम्**—स्वयं **समभवत्**—प्रकट हुए; **परमः**—परम; **पुमान्**—व्यक्ति; **यः**—जो; **गोविंदम्**—गोविंद को **आदिपुरुषम्**—आदि पुरुष; **तम्**—उन; **अहम्**—मैं; **भजामि**—भजन करता हूँ।

जिन्हों ने श्री राम, नृसिंह, वामन इत्यादि विग्रहों में नियत संख्या की कला रूप से स्थित रहकर जगत् में विभिन्न अवतार लिए, परंतु जो भगवान् श्रीकृष्ण के रूप में स्वयं प्रकट हुए, उन आदिपुरुष भगवान् गोविंद का मैं भजन करता हूँ।

तात्पर्य

उनकी कलाएँ राम आदि अवतारों के रूप में वैकुण्ठ से प्रकट होती हैं एवं उनका स्वयं कृष्ण रूप इस जगत् में व्रज सहित गोलोक से प्रकट होता है। गूढ़ तात्पर्य यह है कि श्री कृष्ण चैतन्य भी, जो स्वयं कृष्ण ही हैं, अपने प्राकट्य से भगवान् की सीधी अभिव्यक्ति करते हैं।

श्लोक ४०

यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटि-
कोटिष्वशेषवसुधादि विभूतिभिन्नम्।
तद् ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।।४०।।

यस्य—जिनका; **प्रभा**—प्रकाश; **प्रभवतः**—प्रभावशाली का; **जगत्-अंड**—ब्रह्माण्डों का; **कोटि-कोटि**—करोड़ों में; **अशेष**—असीम; **वसुधा-आदि**—ग्रह तथा अन्य प्रकाश; **विभूति**—ऐश्वर्यों के साथ; **भिन्नम्**—भिन्न भिन्न होकर; **तत्**—वह; **ब्रह्म**—ब्रह्म; **निष्कलम्**—अंशों से रहित; **अनंतम्**—अनंत; **अशेष-भूतम्**—पूर्ण; **गोविंदम्**—गोविंद को; **आदि-पुरुषम्**—आदिपुरुष; **तम्**—उन; **अहम्**—मैं; **भजामि**—भजन करता हूँ।

जिनकी प्रभा उपनिषदों में वर्णित निर्विशेष ब्रह्म का स्रोत है, तथा करोड़ों ब्रह्माण्डों में अनंत विभूतियों के रूप में भेद को प्राप्त होने के नाते निरवच्छिन्न, पूर्ण, अनंत सत्य के रूप में प्रकट है, उन आदिपुरुष भगवान् गोविंद का मैं भजन करता हूँ।

तात्पर्य

स्थान, काल तथा जड़ पदार्थों को समाहित किये हुए माया-जनित यह भौतिक जगत् अनंत बाह्य प्रकाशों में से एक है। भगवान् का निर्विशेष

रूप, निर्विशेष ब्रह्म, उस मायिक तत्त्व से बहुत ऊँचा है। किन्तु वह निर्विशेष ब्रह्म भी त्रिपाद-विभूतिरूप वैकुण्ठ के चिन्मय क्षेत्र की सीमा से निकलता हुआ बाह्य तेज मात्र है। निर्विशेष ब्रह्म अविभाज्य है, इसलिए अद्वितीय भी है और अशेष-शेष तत्त्व भी।

श्लोक ४१

माया हि यस्य जगदण्डशतानि सूते
त्रैगुण्यतद्विषयवेदवितायमाना।
सत्त्वावलम्बिपरसत्त्वं विशुद्धसत्त्वं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।।४१।।

माया—बहिरंगा शक्ति; **हि**—अवश्य; **यस्य**—जिनकी; **जगत्-अंड**—ब्रह्माण्डों का; **शतानि**—कई सौ; **सूते**—निकालती है; **त्रैगुण्य**—तीन भौतिक गुणों को मूर्तिमंत की हुई; **तत्**—उसका; **विषय**—विषय; **वेद**—वैदिक ज्ञान; **वितायमाना**—बिखेरती है; **सत्व-अवलम्बि**—सारे अस्तित्व का आधार; **पर-सत्त्वम्**—परम तत्त्व; **विशुद्ध-सत्त्वम्**—परम सत्ताधारी सिद्धांत; **गोविंदम्**—गोविंद को; **आदि-पुरुषम्**—आदि पुरुष; **तम्**—उन; **अहम्**—मैं; **भजामि**—भजन करता हूँ।

सत्व, रज तथा तमोरूप त्रिगुणमयी एवं जड़-ब्रह्माण्डसम्बंधी वेदज्ञानविस्तारिणी माया, जिनकी अपरा शक्ति है, उन्हीं सत्वाश्रय रूप परसत्वनिबन्धन विशुद्धसत्वरूप आदिपुरुष भगवान् गोविंद का मैं भजन करता हूँ।

तात्पर्य

रजस् का क्रियाशील भौतिक गुण सारे भौतिक तत्त्वों का सृजन करता है। सत्वगुण रजोगुण के साथ मिलकर उन सृजित तत्त्वों का पालन

करता है, और तमोगुण विनाश के सिद्धांत को प्रदर्शित करता है। त्रिगुण-मिश्रित सत्व प्राकृत है, किन्तु रज तथा तमो गुणों से अमिश्रित जो सत्व है, वही दिव्य एवं नित्यवर्तमान धर्म ही परसत्व है। उससे जिसके स्वरूप की अवस्थिति हो, वही विशुद्ध सत्व अमायिक प्रपंचातीत, निर्गुण तथा चिदानंद है। विमोहिनी शक्ति माया ने ही जड़ जगत् में समस्त-विधिमद त्रैगुण्यविषयक वेदों का विस्तार किया है।

श्लोक ४२

आनन्दचिन्मयरसात्मतया मनःसु
यः प्राणिनां प्रतिफलन् स्मरतामुपेत्य।
लीलायितेन भुवनानि जयत्यजस्रं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।।४२।।

आनंद—आनंद; **चित्-मय**—पूर्ण चेतना; **रस**—रस के; **आत्मतया**—तत्त्व होने के कारण; **मनःसु**—मन में; **यः**—वह जो; **प्राणिनाम्**—प्राणियों के; **प्रतिफलन्**—प्रतिबिंबित होते हुए; **स्मरताम् उपेत्य**—स्मरण करते हुए; **लीलायितेन**—लीलाओं से; **भुवनानि**—भौतिक जगतों को; **जयति**—विजय राज्य स्थापित करते हैं; **अजस्रम्**—नित्य; **गोविंदम्**—गोविंद को; **आदि-पुरुषम्**—आदिपुरुष; **तम्**—उन; **अहम्**—मैं; **भजामि**—भजन करता हूँ।

जो स्मरणकारी प्राणियों के मनों में नित्य आनंदचिन्मयरस-स्वरूप से प्रतिफलित होकर निज लीला-विलास द्वारा निरन्तर समस्त भौतिक जगत् को वशीभूत करते हैं, उन आदिपुरुष भगवान् गोविंद का मैं भजन करता हूँ।

तात्पर्य

जो सदुपदेशों के अनुसार उन कृष्ण के मधुर रस में प्रकट नाम, रूप, गुण तथा लीलाओं को निरंतर स्मरण करते रहते हैं, जिनका सौन्दर्य भौतिक हृदयों को जीतनेवाले कामदेव को परास्त करता है, वही कृष्ण के स्मरणकारी हैं। कृष्ण, जो कि पूर्ण लीलामय हैं, नित्य निज धाम के साथ केवल ऐसे ही व्यक्तियों की शुद्ध ग्रहणशील चेतना में स्वयं को स्फुरित करते हैं। उस दिव्य प्रकाशित धाम की लीलाएँ इस पार्थिव जगत् के समस्त ऐश्वर्यों तथा माधुर्यों पर सर्वतोभाव से विजयपूर्वक शासन करती हैं।

श्लोक ४३

गोलोकनाम्नि निजधाम्नि तले च तस्य
देवीमहेशहरिधामसु तेषु तेषु।
ते ते प्रभावनिचया विहिताश्च येन
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।।४३।।

गोलोक-नाम्नि—गोलोक वृंदावन नामक लोक; **निज-धाम्नि**—भगवान् का अपना धाम; **तले**—तल में; **च**—भी; **तस्य**—उसके; **देवी**—दुर्गादेवी के; **महेश**—शिव के; **हरि**—नारायण के; **धामसु**—लोकों में; **तेषु तेषु**—प्रत्येक में; **ते ते**—वे क्रमशः; **प्रभाव-निचया**—ऐश्वर्य; **विहिताः**—स्थापित; **च**—भी; **येन**—जिनके द्वारा; **गोविंदम्**—गोविंद को; **आदि-पुरुषम्**—आदि पुरुष; **तम्**—उन; **अहम्**—मैं; **भजामि**—भजन करता हूँ।

जिन्होंने गोलोक नामक अपने सर्वोपरि धाम में रहते हुए उसके नीचे स्थित क्रमशः वैकुण्ठलोक (हरिधाम), महेशलोक

तथा देवीलोक नामक विभिन्न धामों के विभिन्न स्वामियों को यथायोग्य अधिकार प्रदान किया है, उन आदिपुरुष भगवान् गोविंद का मैं भजन करता हूँ।

तात्पर्य

गोलोक धाम सबसे ऊपर स्थित है। ब्रह्माजी, गोलोक तक देखते हुए, अन्य धामों का वर्णन अपने धाम के सापेक्ष्य में कर रहे हैं: क्रम में पहले चौदह लोकों (जैसे सत्यलोक आदि) से बना यह भौतिक जगत् है, जिसे देवी धाम कहा जाता है। देवी-धाम से ऊपर शिव-धाम है, जिसका महाकाल-धाम नामक एक भाग अंधकार से ढका है। शिव-धाम के इस भाग से अंतर्भेदित सदाशिव लोक महा-आलोकमय है। उसके ऊपर हरि-धाम या दिव्य वैकुण्ठलोक है। माया के विस्तार के रूप में देवी-धाम का प्रभाव एवं काल, स्थान तथा द्रव्यमय शिवलोक का प्रभाव भगवान् का विभिन्नांश-गत स्वांशाभासमय प्रभाव है। किन्तु हरि-धाम का चिद्-ऐश्वर्य प्रभाव एवं महामाधुर्य प्रभाव गोलोक के अन्य समस्त ऐश्वर्यों पर राज्य करता है। परमेश्वर गोविंद ने अपने साक्षात् अथवा परोक्ष प्रभाव द्वारा उन धामों के प्रभावों का विधान किया है।

श्लोक ४४

सृष्टिस्थितिप्रलयसाधनशक्तिरेका
छायेव यस्य भुवनानि विभर्ति दुर्गा।
इच्छानुरूपमपि यस्य च चेष्टते सा
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।।४४।।

सृष्टि—सृष्टि; **स्थिति**—पालन; **प्रलय**—विनाश; **साधन**—साधन; **शक्तिः**—शक्ति;

एका—एक; **छाया**—छाया; **इव**—जैसी; **यस्य**—जिनका; **भुवनानि**—भौतिक जगतों; **बिभर्ति**—पालन करती हैं; **दुर्गा**—दुर्गा; **इच्छा**—इच्छा; **अनुरूपम्**—के अनुरूप; **अपि**—अवश्य; **यस्य**—जिनकी; **च**—भी; **चेष्टते**—चेष्टाएँ करती हैं; **सा**—वह (दुर्गा); **गोविंदम्**—गोविंद को; **आदि-पुरुषम्**—आदि पुरुष; **तम्**—उन; **अहम्**—मैं; **भजामि**—भजन करता हूँ।

भौतिक जगत् की सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय की साधन-कारिणी, चित्-शक्ति की छाया-स्वरूपा माया शक्ति, जो कि सभी के द्वारा दुर्गा नाम से पूजित होती हैं, जिनकी इच्छा के अनुसार वे चेष्टाएँ करती हैं, उन आदिपुरुष भगवान् गोविंद का मैं भजन करता हूँ।

तात्पर्य

(पूर्वोक्त देवी-धाम की अधिष्ठात्री देवी का परिचय दिया जा रहा है।) जिस जगत् में ब्रह्मा गोलोकनाथ की स्तुति करते हैं, वह चौदह भुवनों वाला देवी धाम है, जहाँ की अधिष्ठात्री देवी दुर्गा हैं। वे दस सकाम कर्म रूपी भुजाओं से युक्त हैं। वीर-प्रताप में अवस्थित होने से वे सिंहवाहिनी हैं। महिषासुर को मारने से वे पापमर्दिनी का प्रतिनिधित्व करती हैं। वे शोभा के प्रतीक कार्तिकेय तथा सिद्धि के मूर्तरूप गणेश—इन दोनों पुत्रों की माता हैं। वे जड़ैश्वर्यरूपा लक्ष्मी एवं जड़विद्यारूपा सरस्वती की मध्यवर्ती हैं। पाप दमन के लिए अनेक वेदोक्त शुद्ध कार्यकलापों को बीस अस्त्रों के रूप में तथा विनाशकारी काल-शोभा युक्त होने से वे सर्प को अलंकार रूप में धारण करती हैं। दुर्गा ऐसे विभिन्न रूपों वाली हैं। '*दुर्गा*' दुर्ग की स्वामिनी है, जिसका अर्थ है कारागार। जब तटस्था शक्ति से उत्पन्न जीव कृष्ण की सेवा भूल जाते हैं तो उनको संसार रूपी कारागार, दुर्गा के दुर्ग, में बंद कर दिया जाता है। इस स्थान पर दण्ड देने का यंत्र

कर्म-चक्र होता है। इन दण्डित जीवों को शुद्ध करने का कार्यभार दुर्गा को दिया जाता है। वे इस कार्य का सम्पादन गोविंद की इच्छा से अनवरत करती रहती हैं। जब कैदी जीव को सौभाग्यवश स्वरूप-सिद्ध आत्माओं के संग द्वारा अपने गोविंद-विस्मरण का भान होता है और जब उसमें कृष्ण की प्रेममयी सेवा की स्वाभाविक वृत्ति जगती है तो दुर्गा स्वयं कृष्ण की इच्छा से उसकी मुक्ति का भी माध्यम बनती हैं। तो यह सभी का कर्तव्य है कि वे कृष्ण की निस्वार्थ सेवा द्वारा इस कारागार की अध्यक्षा, दुर्गा, को संतुष्ट कर उनकी निष्कपट कृपा प्राप्त करें। दुर्गा द्वारा धन-धान्य, सुख-आरोग्यता, स्त्री-संतानादि के रूप में प्राप्त वरदानों को हमें उनकी कपट-कृपा ही समझना चाहिए। ये दुर्गा *'दश-महा-विद्या'* रूपों से जड़ जगत् के बद्धजीवों के मोह-पाश हेतु जड़ीय आध्यात्मिक लीला का विस्तार करती हैं। जीव कृष्ण का आध्यात्मिक अंश है। उसमें कृष्ण-बहिर्मुखता दोष आने से उसे तत्काल माया की आकर्षण शक्ति द्वारा इस जगत् में डाल दिया जाता है। माया उसे कैदी की पोशाक की भाँति पञ्चभूत, पञ्च तन्मात्रा तथा एकादश इंद्रिय वाली एक स्थूल देह में सजाकर भौतिक सकाम कर्म की भँवर में फँसा देती है। उसी में घूमता हुआ बहिर्मुख जीव सुख-दुःख, स्वर्ग-नरकादि का अनुभव करता है। इसके अतिरिक्त स्थूल देह में मन, बुद्धि तथा अहंकार की सूक्ष्म देह भी रहती है। सूक्ष्म देह की सहायता से जीव एक स्थूल देह छोड़कर अन्य देह में जाता है। मुक्ति न होने तक जीव अविद्या तथा दुर्वासना से पूर्ण सूक्ष्म देह से छूट नहीं पाता। सूक्ष्म देह से छूटने के पश्चात् वह विरजा में स्नान करता है और हरि-धाम तक जाता है। गोविंद की इच्छा के अनुरूप दुर्गा के ऐसे विलक्षण कार्य होते हैं। भागवत के *विलज्यमानया...दुर्धियः* श्लोक में दुर्गा तथा बद्धजीवों का संबंध वर्णित है।

इस भौतिक जगत् के लोगों द्वारा पूजित दुर्गा ही ऊपर-वर्णित दुर्गा हैं। किन्तु भगवान् के आध्यात्मिक धाम के बाहरी आवरण वाले मंत्र में उल्लिखित आध्यात्मिक दुर्गा कृष्ण की नित्य दासी होने के नाते अप्राकृत सत्य हैं, जिनकी छाया, इस जगत् की दुर्गा, इस जड़ जगत् में उनकी दासी के रूप में कार्य करती है। (देखें श्लोक ३ का तात्पर्य)

श्लोक ४५

क्षीरं यथा दधि विकारविशेषयोगात्
सञ्जायते न हि ततः पृथगस्ति हेतोः।
यः शम्भुतामपि तथा समुपैति कार्याद्
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।।४५।।

क्षीरम्—दूध; **यथा**—जैसे; **दधि**—दही; **विकार-विशेष**—जामन आदि विशेष विकार; **योगात्**—के मिलाने से; **संजायते**—में बदल जाता है; **न**—नहीं; **हि**—अवश्य; **ततः**—दूध से; **पृथक्**—अलग; **अस्ति**—है; **हेतोः**—जो हेतु है; **यः**—जो; **शम्भुताम्**—शिव; **अपि**—भी; **तथा**—इस प्रकार; **समुपैति**—स्वीकार करते हैं; **कार्यात्**—किसी विशेष कार्य के लिए; **गोविंदम्**—गोविंद को; **आदि-पुरुषम्**—आदि पुरुष; **तम्**—उन; **अहम्**—मैं; **भजामि**—भजन करता हूँ।

जिस प्रकार दूध खटाई या जामनादि के संयोग से दही में बदल जाता है, किन्तु फिर भी अपने उपादान-कारण दूध के वह न तो समान होता है और न ही उस से पृथक् होता है, उसी प्रकार संहार कार्य के निमित्त जो शम्भु रूप में परिणत हो गए हैं, उन आदिपुरुष भगवान् गोविंद का मैं भजन करता हूँ।

तात्पर्य

(महेश धाम के अधिष्ठाता, शम्भु, के वास्तविक स्वभाव का परिचय दिया जा रहा है।) शम्भु कृष्ण से भिन्न कोई द्वितीय भगवान् नहीं हैं। इस तरह की भेदबुद्धि रखने वाले लोग भगवान् के प्रति घोर अपराध करते हैं। शम्भु की ईश्वरता गोविंद की ईश्वरता के अधीन है, इसलिए वे वास्तव में एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं। यह अभिन्नता इस तथ्य से प्रतिपादित होती है कि जैसे जामन डालने से दूध दही बन जाता है, उसी प्रकार स्वयं भगवान् एक विशेष प्रकार के संस्पर्श द्वारा पृथक् उप-व्यक्तित्व धारण कर लेते हैं। इस व्यक्तित्व का कोई स्वतंत्र आचरण नहीं होता। विकार का तत्त्व माया के तमोगुण, तटस्था शक्ति की लघुता के गुण एवं चित्-शक्ति के स्वल्प ह्लादिनीमिश्रित सम्वित् गुण—इन तीनों के संमिश्रण से बना होता है। विकार-विशेष से युक्त स्वांशभावाभासस्वरूप ही सदाशिव हैं, जो कि ज्योतिर्मय शम्भुलिंगरूप में रहते हैं और जिनसे रुद्रदेव प्रकट होते हैं। जड़ सृष्टि के कार्य में द्रव्यव्यूहमय उपादान रूप से पालन के कार्य में विविध असुरों के विनाश के द्वारा एवं संहार के कार्य में समस्त क्रिया का सम्पादन करने हेतु गोविंद स्वयं को शम्भु रूपी गुण-अवतार के रूप में अभिव्यक्त करते हैं। शम्भु गोविंद के स्वांशभावापन्न विभिन्नांशरूप हैं। शम्भु के कालपुरुष होने का निर्णय श्रील जीव गोस्वामी की टीका में उद्धृत शास्त्र प्रमाणों में प्राप्य है। भागवत के *वैष्णवानां यथा शम्भुः* इत्यादि श्लोकों का तात्पर्य है कि वे शम्भु, गोविंद की इच्छा के अनुरूप, अपनी कालशक्ति द्वारा अपनी संगिनी दुर्गादेवी के साथ कार्य करते हैं। वे तंत्रादि विभिन्न शास्त्रों में भिन्न भिन्न अधिकारियों के उत्तरोत्तर विकास द्वारा भक्ति लाभ हेतु धर्म की शिक्षा देते हैं।

गोविंद की इच्छा के अनुरूप शम्भु मायावाद तथा *'आगम-शास्त्रों'* के

प्रचार द्वारा शुद्ध भक्ति का पालन तथा संरक्षण करते हैं। जीवों के पचास गुण शम्भु में कहीं अधिक मात्रा में प्रकाशित होते हैं और जीवों द्वारा अप्राप्य पाँच अतिरिक्त गुण भी उनमें आंशिक रूप से पाए जाते हैं। अतः शम्भु को जीव नहीं कहा जा सकता। वे जीवों के प्रभु हैं तथापि गोविंद के विभिन्नांश का भाव धारण करते हैं।

श्लोक ४६

दीपार्चिरेव हि दशान्तरमभ्युपेत्य
दीपायते विवृतहेतुसमानधर्मा।
यस्तादृगेव हि च विष्णुतया विभाति
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।।४६।।

दीप-अर्चि—दीप की लौ; **एव**—जैसे; **हि**—अवश्य; **दशान्तरम्**—दूसरा दीप; **अभ्युपेत्य**—विस्तार करके; **दीपायते**—आलोकित करता है; **विवृत-हेतु**—अपने विस्तारित कारण के साथ; **समान-धर्मा**—उतना ही प्रभावशाली; **यः**—जो; **तादृक्**—उसी प्रकार; **एव**—अवश्य; **हि**—ही; **च**—भी; **विष्णुतया**—अपने विस्तार, भगवान् विष्णु के रूप द्वारा; **विभाति**—आलोकित करते हैं; **गोविंदम्**—गोविंद को; **आदि-पुरुषम्**—आदि पुरुष; **तम्**—उन; **अहम्**—मैं; **भजामि**—भजन करता हूँ।

जैसे एक दीपक की लौ दूसरे दीपक में पहुँच कर यद्यपि दोनों दीपकों में पृथक् रूप से जलती है परन्तु गुण में एकसमान होती है, उसी प्रकार जो स्वयं को विभिन्न प्रकाशों में समान रूप से प्रदर्शित करते हैं, उन आदिपुरुष भगवान् गोविंद का मैं भजन करता हूँ।

तात्पर्य

यहाँ हरिधाम के अधिष्ठातों का वर्णन हो रहा है यथा हरि, नारायण, विष्णु इत्यादि—जो कृष्ण के स्वांश हैं। कृष्ण की विलास-मूर्ति वैकुण्ठपति नारायण हैं, जिनका स्वांश कारणोदकशायी विष्णु एवं उनका अंश गर्भोदकशायी है। फिर गर्भोदकशायी के अंश हैं क्षीरोदकशायी। 'विष्णु' शब्द सर्वावस्था में सर्व-व्यापक अन्तर्यामी व्यक्तित्व का वाचक है। इस श्लोक में क्षीरोदकशायी विष्णु के तत्त्व-निरूपण द्वारा भगवान् के स्वांशों का विलास निरूपित हुआ है। सत्वगुणावतार विष्णुतत्त्व मायिकगुणादि-मिश्रित शम्भु तत्त्व से भिन्न हैं। गोविंद का जो स्वरूप है, वही विष्णु का स्वरूप है। शुद्ध सत्त्वस्वरूपता दोनों ही में है। प्रकटित हेतु रूप से विष्णु गोविंद के गुणों में समानधर्मी हैं। त्रिगुणमयी माया में जो सत्वगुण होता है वह रजो व तमो गुण से दूषित होने के कारण अशुद्ध-सत्व है। ब्रह्मा रजोगुण में एवं शम्भु तमोगुण में प्रकट होनेवाले स्वांश-प्रभाव-संपन्न विभिन्नांश हैं। उनके विभिन्नांश होने का कारण यही है कि माया के रजो तथा तमो गुण नितांत *अचित्* होने के नाते उनमें उदित होने वाले ये दो तत्त्व भी भगवान् के स्वयंरूप अथवा तदेकात्म रूपों से अत्यंत दूरस्थ रहते हैं। माया का सत्वगुण भी यद्यपि मिश्रित होता है, तथापि उसके विशुद्ध सत्वांश में ही गुणावतार विष्णु उदित होते हैं। अतः विष्णु ही पूर्ण स्वांशविलास एवं महेश्वर तत्त्व हैं। वे माया से युक्त न होने पर भी माया के प्रभु हैं। विष्णु गोविंद के निजत्व के हेतु-रूप के अभिकर्ता हैं। उनकी विलासमूर्ति नारायण में गोविंद के समस्त ऐश्वर्य, अर्थात् साठ गुण पूर्ण रूप से रहते हैं। अतएव ब्रह्मा और शिव जिस प्रकार मायागुण-मिश्र-तत्त्व हैं, गुणावतार होने पर भी विष्णु वैसे नहीं है। नारायण का महाविष्णु के रूप में आविर्भाव, महाविष्णु का

गर्भोदकशायी के रूप में आविर्भाव एवं क्षीरोदकशायी के रूप में विष्णु का आविर्भाव भगवान् की सर्व-व्यापकता के उदाहरण हैं। विष्णु ही ईश्वर हैं एवं अन्य दो गुणावतार तथा समस्त देवतागण उनके अधीन आधिकारिक-तत्त्व-विशेष हैं। महादीपक गोविंद की विलासमूर्ति से कारणोदकशायी, गर्भोदकशायी, क्षीरोदकशायी एवं रामादि समस्त स्वांश अवतार पृथक्-पृथक् वर्तिगत या दशागत दीपक स्वरूपों से गोविंद की चित्-शक्ति द्वारा विराजमान होते हैं।

श्लोक ४७

यः कारणार्णवजले भजति स्म योग-
निद्रामनन्तजगदण्डसरोमकूपः।
आधारशक्तिमवलम्ब्य परां स्वमूर्तिं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।।४७।।

यः—वह जो; **कारण-अर्णव**—कारण समुद्र के; **जले**—जल में; **भजति**—आनंद लेते हैं; **स्म**—अवश्य; **योग-निद्राम्**—योगनिद्रा; **अनंत**—अनंत; **जगत्-अंड**—ब्रह्माण्ड; **स**—के साथ; **रोम-कूपः**—रोमों में; **आधार-शक्तिम्**—आधार-शक्ति; **अवलम्ब्य**—अवलंबित करके; **पराम्**—परम; **स्व-मूर्तिम्**—अपने ही रूप; **गोविंदम्**—गोविंद को; **आदि-पुरुषम्**—आदि पुरुष; **तम्**—उन; **अहम्**—मैं; **भजामि**—भजन करता हूँ।

जो अपनी आधारशक्ति-स्वरूप अनंतशेष नामक श्रेष्ठमूर्ति का अवलम्बन करके अपने रोमकूपों में अनन्त ब्रह्माण्डों को समाये हुए योगनिद्रा का आनंद लेते हैं, उन आदिपुरुष भगवान् गोविंद का मैं भजन करता हूँ।

तात्पर्य

(यहाँ महाविष्णु की शैया रूप, अनंतशेष, का निरूपण किया गया है।) महाविष्णु जिस अनंत-शैया पर शयन करते हैं, वही अनंत कृष्ण के दास-तत्त्व रूप 'शेष' नाम के अवतार विशेष हैं।

श्लोक ४८

यस्यैकनिश्वसितकालमथावलम्ब्य
जीवन्ति लोमविलजा जगदण्डनाथाः।
विष्णुर्महान् स इह यस्य कलाविशेषो
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।।४८।।

यस्य—जिनके; **एक**—एक; **निश्वसित**—श्वास का; **कालम्**—समय; **अथ**—इस प्रकार; **अवलम्ब्य**—आश्रय लेकर; **जीवन्ति**—जीवित रहते हैं; **लोम-विल-जाः**—रोमछिद्रों से बढ़ने वाला; **जगत्-अंड-नाथाः**—ब्रह्माण्डों के स्वामी (ब्रह्मागण); **विष्णुः महान्**—भगवान् महाविष्णु; **सः**—वह; **इह**—यहाँ; **यस्य**—जिनकी; **कला-विशेषः**—विशेष कला हैं; **गोविंदम्**—गोविंद को; **आदि-पुरुषम्**—आदि पुरुष; **तम्**—उन; **अहम्**—मैं; **भजामि**—भजन करता हूँ।

महाविष्णु के रोमछिद्रों से प्रकट ब्रह्मा एवं भौतिक ब्रह्माण्डों के अन्य स्वामीगण उनके (महाविष्णु के) एक निश्वास जितने काल तक ही जीवित रहते हैं; परन्तु जिनकी एक विशिष्ट कला मात्र महाविष्णु भी है, उन आदिपुरुष भगवान् गोविंद का मैं भजन करता हूँ।

तात्पर्य

यहाँ विष्णु तत्त्व के महाऐश्वर्य का वर्णन हुआ है।

श्लोक ४९

भास्वान् यथाश्मशकलेषु निजेषु तेजः
स्वीयं कियत्प्रकटयत्यपि तद्वदत्र।
ब्रह्मा य एष जगदण्डविधानकर्ता
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।।४९।।

भास्वान्—प्रज्ज्वलित सूर्य; **यथा**—जैसे; **अश्म-शकलेषु**—विभिन्न मूल्यवान रत्नों में; **निजेषु**—अपना; **तेजः**—तेज; **स्वीयम्**—अपना; **कियत्**—कुछ हद तक; **प्रकटयति**—प्रकट करते हैं; **अपि**—भी; **तद्वत्**—उसी प्रकार; **अत्र**—यहाँ; **ब्रह्मा**—ब्रह्मा जी; **यः**—जो; **एषः**—वह; **जगत्-अंड-विधान-कर्ता**—ब्रह्माण्ड का मुखिया; **गोविंदम्**—गोविंद को; **आदि-पुरुषम्**—आदि पुरुष; **तम्**—उन; **अहम्**—मैं; **भजामि**—भजन करता हूँ।

सूर्य जिस प्रकार सूर्यकान्तादि मणियों में अपने तेज का कुछ अंश संचार करता है, उसी प्रकार विभिन्नांश-स्वरूप ब्रह्मा जिनसे प्राप्त शक्ति द्वारा ब्रह्माण्ड का विधान करते हैं, उन आदिपुरुष भगवान् गोविंद का मैं भजन करता हूँ।

तात्पर्य

ब्रह्मा दो प्रकार के हैं : कुछ कल्पों में जब भगवद्-शक्ति का आवेश किसी योग्य जीव में होता है, तो वह जीव ब्रह्मा के पद पर आकर ब्रह्माण्ड की सृष्टि करता है। जिन कल्पों में कोई योग्य जीव उपलब्ध नहीं रहता, तो पूर्व कल्प के ब्रह्मा के मुक्त हो जाने के उपरांत, कृष्ण निज शक्ति का विस्तार कर रजोगुणावतार ब्रह्मा की रचना करते हैं। विधान के आधार पर ब्रह्मा सामान्य जीव से श्रेष्ठतर हैं किन्तु वे प्रत्यक्ष भगवान् नहीं हैं। तत्त्वतः ब्रह्मा की तुलना में शम्भु में अधिक भगवत्ता रहती है। मूल तात्पर्य

यह है कि जीवों में पाए जाने वाले कुल पचास गुण ब्रह्मा में पूर्णतर रहते हैं। इसके अतिरिक्त जीवों में अप्राप्य पाँच गुण भी ब्रह्मा में अल्पांश मात्रा में रहते हैं। किन्तु शम्भु में जीवों के पचासों गुण एवं ब्रह्मा के अतिरिक्त पाँच गुण ब्रह्मा से भी अधिक मात्रा में पाए जाते हैं।

श्लोक ५०

यत्पादपल्लवयुगं विनिधाय कुम्भ-
द्वन्द्वे प्रणामसमये स गणाधिराजः।
विघ्नान् विहन्तुमलमस्य जगत्त्रयस्य
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।।५०।।

यत्—जिनके; **पाद-पल्लव**—चरणकमलों को; **युगम्**—दोनों; **विनिधाय**—पकड़कर; **कुम्भ-द्वन्द्वे**—मस्तक के दोनों कुम्भों (उभरे हुए भागों); **प्रणाम-समये**—प्रणाम करते समय; **सः**—वह; **गण-अधिराजः**—गणेश; **विघ्नान्**—विघ्नों को; **विहन्तुम**—विनाश करने में; **अलम्**—समर्थ होते हैं; **अस्य**—इन; **जगत्-त्रयस्य**—तीनों लोकों के; **गोविंदम्**—गोविंद को; **आदि-पुरुषम्**—आदि पुरुष; **तम्**—उन; **अहम्**—मैं; **भजामि**—भजन करता हूँ।

तीनों लोकों के समस्त विघ्नों का विनाश करने हेतु शक्ति प्राप्त करने के उद्देश्य से जिनके चरणकमलों को श्री गणेश अपने मस्तक के दोनों कुम्भों पर धारण करते हैं, उन आदिपुरुष श्री गोविंद का मैं भजन करता हूँ।

तात्पर्य

भौतिक प्रगति के सारे विघ्नों का विनाश करने का अधिकार गणेश जी को दिया गया है, जो अपने पूजन के योग्य उपासकों द्वारा पूजित होते है। सगुण ब्रह्म रूप पञ्चदेवों में भी इनका एक विशेष स्थान है। यह

गणेश एक भगवद्-शक्त्याविष्ट आधिकारिक देवता हैं। उनकी सारी महिमा गोविंद की कृपा पर ही आधारित होती है।

श्लोक ५१

अग्निर्मही गगनमम्बु मरुद्दिशश्च
कालस्तथात्ममनसीति जगत्त्रयाणि।
यस्माद् भवन्ति विभवन्ति विशन्ति यं च
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।।५१।।

अग्निः—अग्नि; **मही**—पृथ्वी; **गगनम्**—आकाश; **अम्बु**—जल; **मरुत्**—वायु; **दिशः**—दिशाएँ; **च**—भी; **कालः**—काल; **तथा**—तथा; **आत्म**—आत्मा; **मनसी**—और मन; **इति**—इति; **जगत्-त्रयाणि**—तीन लोक; **यस्मात्**—जिनसे; **भवन्ति**—उत्सृत होते हैं; **विभवन्ति**—रहते हैं; **विशन्ति**—प्रवेश करते हैं; **यम्**—जिनको; **च**—भी; **गोविंदम्**—गोविंद को; **आदि-पुरुषम्**—आदि पुरुष; **तम्**—उन; **अहम्**—मैं; **भजामि**—भजन करता हूँ।

अग्नि, पृथ्वी, आकाश, जल, वायु, दिशाएँ, काल, आत्मा एवं मन रूपी नौ तत्त्वों से युक्त तीनों लोक जिनसे उत्पन्न होते हैं, जिनमें स्थित रहते हैं और प्रलय के समय जिनमें प्रवेश कर जाते हैं, उन आदिपुरुष भगवान् गोविंद का मैं भजन करता हूँ।

तात्पर्य

पंचतत्त्वों, दस दिशाओं, काल, जीवात्मा और बद्धजीव के मन, बुद्धि तथा अहंकार से गठित सूक्ष्म शरीर के अलावा तीनों लोकों में और कुछ नहीं है। कर्मी लोग यज्ञ-अग्नि में हवन करते हैं। समस्त बहिर्मुख जीव इस दृश्य जगत् के नौ तत्त्वों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं जानते। शुष्क ज्ञानीगण जिस आत्मारामता को खोजते फिरते हैं, जीव स्वयं वही

आत्मा है। सांख्य-शास्त्र में वर्णित आत्मा तथा प्रकृति दोनों तत्त्वों को ऊप
निहित कर लिया गया है अर्थात् समस्त प्रकार के तत्त्व-वादियों द्वा
निर्दिष्ट तत्त्व इन नौ तत्त्वों के अंतर्गत हैं। श्री गोविंद इन सारे तत्त्वों
जन्म, स्थिति एवं विनाश के स्रोत हैं।

श्लोक ५२

यच्चक्षुरेष सविता सकलग्रहाणां
राजा समस्तसुरमूर्तिरशेषतेजाः।
यस्याज्ञया भ्रमति सम्भृतकालचक्रो
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।।५२।।

यत्—जिनके; **चक्षु**—नेत्र; **एषः**—यह; **सविता**—सूर्य; **सकल-ग्रहाणाम्**—सारे ग्र
का; **राजा**—राजा; **समस्त-सुर**—सारे देवताओं की; **मूर्तिः**—छवि; **अशेष-तेजाः**—अन
ज्योति से परिपूर्ण; **यस्य**—जिनकी; **आज्ञया**—आज्ञा से; **भ्रमति**—भ्रमण करता
सम्भृत—पूर्ण; **काल-चक्रः**—काल का चक्र; **गोविंदम्**—गोविंद को; **आदि-पुरुषम्**
आदिपुरुष; **तम्**—उन; **अहम्**—मैं; **भजामि**—भजन करता हूँ।

**तेज से पूर्ण सूर्य इस जगत् के नेत्र हैं; वे समस्त ग्रहों के
अधिपति हैं, अनन्त तेज से पूर्ण समस्त देवात्माओं के प्रतीक हैं
उन आदिपुरुष भगवान् गोविंद का मैं भजन करता हूँ जिनकी
आज्ञा से सूर्य कालचक्र पर चढ़कर भ्रमण करता रहता हैं।**

तात्पर्य

वैदिक धर्म के कुछ प्रवर्तक सूर्य को ब्रह्म के रूप में पूजते हैं। सू
पञ्चदेवों में से एक हैं। कुछ लोग तेज को ही इस जगत् का स्रोत मान
हैं और इस कारण से तेज के एकमात्र आधार सूर्य को इस जगत का हे

जानते हैं। सारे विरोधी तर्कों के होते हुए भी अन्ततः सूर्य समस्त भौतिक तेज मंडल के अधिष्ठाता मात्र हैं, इसलिए एक आधिकारिक देवता हैं। वे गोविन्द की आज्ञा से अपनी विशिष्ट सेवा का कार्य करते हैं।

श्लोक ५३

धर्मोऽथ पापनिचयः श्रुतयस्तपांसि
ब्रह्मादिकीटपतगावधयश्च जीवाः।
यद्दत्तमात्रविभवप्रकटप्रभावा
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।।५३।।

धर्मः—धर्म; **अथ**—भी; **पाप-निचयः**—सारे पाप; **श्रुतयः**—वेद; **तपांसि**—तपस्याएँ; **ब्रह्म-आदि**—ब्रह्मा जी से लेकर; **कीट-पतंग**—कीट पतंगे; **अवधयः**—तक; **च**—और; **जीवाः**—सारे जीव; **यत्**—जिनसे; **दत्त**—प्रदत्त; **मात्र**—विशिष्ट रूप से; **विभव**—शक्ति के द्वारा; **प्रकट**—प्रकट; **प्रभावाः**—शक्तियाँ; **गोविंदम्**—गोविंद को; **आदि-पुरुषम्**—आदि पुरुष; **तम्**—उन; **अहम्**—मैं; **भजामि**—भजन करता हूँ।

सभी धर्म, पापसमूह, वेद, तपस्याएँ और ब्रह्मा से लेकर कीट-पतंग तक समस्त प्रकट जीव जिनके द्वारा प्रदत्त शक्तियों से चालित होते हैं, उन आदिपुरुष भगवान् गोविंद का मैं भजन करता हूँ।

तात्पर्य

धर्म का अर्थ है वेदाधिकार प्राप्त बीस *धर्म-शास्त्रों* द्वारा विहित वर्ण और आश्रम के कर्म। उनमें से *वर्ण-धर्म* ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के स्वभावजनित कर्म हैं एवं *आश्रम-धर्म* वे कर्म हैं जो ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास के यथायोग्य आश्रमियों के उपयुक्त होते हैं।

मानवजाति के समस्त आचरण इन्हीं दो विभागों में निहित हैं। पाप का अर्थ है अविद्या—सारे पापों तथा दुर्वासनाओं का मूल। घोर व्यभिचार, उससे उत्पन्न पाप तथा साधारण पाप अर्थात् समस्त प्रकार के अवैध आचरण भी 'पाप' कहे गए हैं। श्रुतियों की श्रेणी में ऋक्, साम, यजुर् और अथर्व एवं वेदों के मुकुटमणिरूप उपनिषद् आते हैं। *तपस्* का अर्थ है वे सारी साधनाएँ जो आत्मा की स्वाभाविक क्रिया की प्राप्ति हेतु की जाएँ। कई स्थितियों में, उदाहरणस्वरूप *पंच तपस्* में, यह साधना बहुत कठिन होती है। अष्टांग योग एवं निर्विशेष ब्रह्म-ज्ञान की साधना भी इसके अंतर्गत है। ये सभी बद्धजीवों के कर्म-चक्र की विभिन्न विशिष्टताएँ हैं। बद्धजीव चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करते हैं। उनमें देव, दानव, राक्षस, मानव, नाग, किन्नर तथा गन्धर्व जैसे नाना स्तरों के जन्म हैं। ऐसे जीव ब्रह्मा से लेकर क्षुद्र कीड़े तक, अनंत प्रकार के हैं। ब्रह्मा से लेकर क्षुद्र चींटी तक वे सभी बद्धजीव हैं और भ्रमणकारी कालचक्र के अन्तर्गत विभिन्न रूप हैं। उनमें से प्रत्येक को व्यक्तिगत रूप से विभिन्न शक्तियाँ प्रदान की गई हैं और प्रत्येक किसी न किसी विशेष क्षेत्र में सक्षम है। किन्तु ये शक्तियाँ उनमें स्वयं-सिद्ध नहीं होतीं। शक्तियों की मात्रा तथा प्रभाव श्री गोविंद द्वारा प्रदत्त ऐश्वर्यों के संचार के अनुपात में होता है।

श्लोक ५४

यस्त्विन्द्रगोपमथवेन्द्रमहो स्वकर्म-
बन्धानुरूपफलभाजनमातनोति।
कर्माणि निर्दहति किन्तु च भक्तिभाजां
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।।५४।।

यः—वह जो (गोविंद); **तु**—परन्तु; **इंद्र-गोपम्**—इंद्रगोप नामक क्षुद्र कीड़े तक; **अथवा**—अथवा; **इंद्रम्**—स्वर्ग के राजा इंद्र तक; **अहो**—आह; **स्व-कर्म**—अपने सकाम कर्म; **बंध**—बंधन; **अनुरूप**—के अनुसार; **फल**—कर्मफल; **भाजनम्**—सुख-दुःख प्राप्त कर रहे हैं; **आतनोति**—प्रदान करते हैं; **कर्माणि**—सारे सकाम कर्म तथा उनके फल; **निर्दहति**—विनाश कर देते हैं; **किन्तु**—किन्तु; **च**—और; **भक्ति-भाजाम्**—भक्ति में लगे व्यक्तियों के; **गोविंदम्**—गोविंद को; **आदि-पुरुषम्**—आदि पुरुष; **तम्**—उनका; **अहम्**—मैं; **भजामि**—भजन करता हूँ।

जो एक इंद्रगोप जैसे क्षुद्र कीड़े से लेकर देवराज इंद्र पर्यन्त समस्त जीवों को उनके कर्मफलों के अनुरूप फल का भोग कराते हैं, किन्तु जो अपने भक्तों के समस्त सकाम कर्मों को समूल नष्ट कर देते हैं, उन आदिपुरुष भगवान् गोविंद का मैं भजन करता हूँ।

तात्पर्य

भगवान् निष्पक्ष रूप से पतित आत्माओं को उनके पूर्वजन्मों के कर्मानुसार क्रिया करने तथा कर्मफल का भोग करने को विवश करते हैं, किन्तु अपने भक्तों पर कृपावश परीक्षा की अग्नि द्वारा सारे कर्मों के मूल में रहनेवाली अविद्या तथा दुर्वासनाओं को दग्ध कर देते हैं। कर्म यद्यपि अनादि है, तथापि नाशवान है। अपने परिश्रमों के फल भोगने की आशा से कार्य करने वाले लोगों का 'कर्म' अक्षय हो जाता है तथा कभी विनष्ट नहीं होता। संन्यास भी विशेष आश्रम के उपयुक्त एक प्रकार का कर्म है। उसमें मोक्ष-इच्छा-रूपी फल की कामना होने पर वह कृष्ण को नहीं भाता। ऐसे संन्यासियों को भी उनके कर्मानुरूप फल मिलता है। यदि वे नितांत निष्काम भी हों तो उनका कर्म आत्मारामता अर्थात् आत्म-सुख देकर क्षीण हो जाता है। किन्तु शुद्ध भक्त सारे कर्म तथा ज्ञान के प्रयासों को छोड़कर

एवं कृष्ण-सेवा के अतिरिक्त अन्य समस्त अभिलाषाओं से मुक्त होकर अनवरत कृष्ण की इंद्रियों की तृप्ति द्वारा कृष्ण की सेवा करते हैं। कृष्ण उन भक्तों के कर्म, कर्मवासना एवं अविद्या को पूरी तरह ध्वंस कर देते हैं। यह परम आश्चर्य का विषय है कि कृष्ण निष्पक्ष होते हुए भी अपने भक्तों का पूर्ण पक्ष लेते हैं।

श्लोक ५५

यं क्रोधकामसहजप्रणयादिभीति-
वात्सल्यमोहगुरुगौरवसेव्यभावैः ।
सञ्चिन्त्य तस्य सदृशीं तनुमापुरेते
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।।५५।।

यम्—जिनके ऊपर; **क्रोध**—क्रोध; **काम**—काम; **सहज-प्रणय**—स्वाभाविक सखा प्रेम; **आदि**—इत्यादि; **भीति**—भय; **वात्सल्य**—वात्सल्य; **मोह**—मोह; **गुरु-गौरव**—श्रद्धा; **सेव्य-भावैः**—तथा सेवाभाव से; **संचिन्त्य**—ध्यान करके; **तस्य**—उनके; **सदृशीम्**—यथायोग्य; **तनुम्**—शरीर; **आपुः**—प्राप्त किया; **एते**—ये व्यक्ति; **गोविन्दम्**—गोविन्द को; **आदिपुरुषम्**—आदि पुरुष; **तम्**—उन; **अहम्**—मैं; **भजामि**—भजन करता हूँ।

क्रोध, काम, सहज स्नेह, भय, वात्सल्य, मोह, श्रद्धा तथा सेवाभाव से जिनका चिंतन करके साधक उन्हीं भावों के यथायोग्य रूपों को प्राप्त हो जाते हैं, उन आदिपुरुष भगवान् गोविन्द का मैं भजन करता हूँ।

तात्पर्य

भक्ति दो प्रकार की होती है : (१) वैधी भक्ति (२) रागात्मिका भक्ति। शास्त्रों तथा आचार्यों के निर्देशों का श्रद्धापूर्वक अनुसरण करने से

भक्ति जागृत होती है। ऐसी भक्ति शास्त्र विधि-निषेधों के अनुसार होती है। वह तब तक क्रियान्वित रहती है, जब तक भाव का उदय नहीं होता। यदि कोई कृष्ण को स्वाभाविक रूप से प्रेम करे तो राग का सिद्धांत, जो कि सेवा का दृढ़ भाव होता है, लागू होता है। फिर यही राग भाव में परिवर्तित हो जाता है। भाव उदित होने पर भक्त कृष्ण का कृपापात्र बन जाता है। इस अवस्था को प्राप्त करने में अत्यंत समय लगता है। भाव-भक्ति वैधी भक्ति से श्रेष्ठ है तथा शीघ्र परिपक्व होकर कृष्ण को आकर्षित करती है। इसके विभिन्न पक्ष इस श्लोक में बताए गए हैं। शांत-भाव, दास्य-भाव, सख्य-भाव, वात्सल्य-भाव एवं मधुर-भाव— ये सब रागात्मिका भक्ति की श्रेणी में आते हैं। किन्तु क्रोध, भय तथा मोह रागात्मिका होने पर भी सही अर्थों में *भक्ति* नहीं हैं, क्योंकि वे विषय के अनुकूल नहीं अपितु प्रतिकूल हैं। क्रोध शिशुपाल सदृश असुरों में, भय कंस में, तथा मोह मायावादी पंडितों में पाया जाता है। उनमें क्रमशः क्रोध, भय तथा पूर्ण सर्व-विस्मरणमय निर्विशेष-ब्रह्मैक्य से मोह के भाव होते हैं। परन्तु चूँकि उनमें *भक्ति* के विषय के प्रति कोई अनुकूलता नहीं होती, इसलिए उनमें भक्ति नहीं आ पाती। शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर भावों में से शांत-भाव में यद्यपि 'राग' उदासीन तथा लुप्तप्राय रहता है, तथापि कुछ अनुकूलता होने के नाते उसकी गणना *भक्ति* में की जाती है। अन्य चार भावों में राग की अत्यधिक प्रचुरता होती है। गीता के इस प्रण *'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजामि अहम्'* (मैं भक्त को शरणागति के अनुपात में पुरस्कृत करता हूँ) के अनुसार भय, क्रोध या मोहरूप राग के अनुशीलनकारी सायुज्य मुक्ति (भगवान् में समा जाना) प्राप्त करते हैं। शांत भक्तों को ब्रह्म तथा परमात्मा में अनुरक्ति के अनुरूप शरीर प्राप्त होता है। दास्य और सख्य भाव के अधिकारी यथायोग्य स्त्री या पुरुष

देहों को प्राप्त करते हैं। वात्सल्य श्रेणी के उपासक मातृ या पितृ भाव हेतु उपयोगी देह प्राप्त करते हैं एवं कृष्ण के मधुर प्रेमी विशुद्ध गोपी-देह लाभ करते हैं।

श्लोक ५६

श्रियः कान्ताः कान्तः परमपुरुषः कल्पतरवो
द्रुमा भूमिश्चिन्तामणिगणमयी तोयममृतम्।
कथा गानं नाट्यं गमनमपि वंशी प्रियसखी
चिदानन्दं ज्योतिः परमपि तदास्वाद्यमपि च।।
स यत्र क्षीराब्धिः स्रवति सुरभीभ्यश्च सुमहान्
निमेषार्धाख्यो वा व्रजति न हि यत्रापि समयः।
भजे श्वेतद्वीपं तमहमिह गोलोकमिति यं
विदन्तस्ते सन्तः क्षितिविरलचाराः कतिपये।।५६।।

श्रियः—लक्ष्मियाँ; **कान्ताः**—गोपियाँ; **कान्तः**—प्रेमी; **परम-पुरुषः**—भगवान्; **कल्प-तरवः**—कल्पवृक्ष; **द्रुमाः**—सारे पेड़; **भूमिः**—भूमि; **चिंतामणि-गण-मयी**—दिव्य चिंतामणियों से बनी; **तोयम्**—जल; **अमृतम्**—अमृत; **कथा**—बातचीत; **गानम्**—गीत; **नाट्यम्**—नृत्य; **गमनम्**—चलना; **अपि**—भी; **वंशी**—बाँसुरी; **प्रिय-सखी**—सदैव साथ रहने वाली सखी; **चित्-आनंदम्**—दिव्य आनंद; **ज्योतिः**—ज्योति; **परम**—परम; **अपि**—भी; **तत्**—वह; **आस्वाद्यम्**—सर्वत्र दृश्यमान; **अपि**—भी; **सः**—वह; **यत्र**—जहाँ; **क्षीराब्धि**—दूध का सागर; **स्रवति**—बहता है; **सुरभीभ्यः**—सुरभी गायों से; **च**—और; **सुमहान्**—बहुत महान; **निमेष-अर्ध**—आधा क्षण; **आख्यः**—बताया जाता है; **वा**—अथवा; **व्रजति**—चला जाता है; **न**—नहीं; **हि**—अवश्य; **यत्र**—जहाँ; **अपि**—भी; **समयः**—समय; **भजे**—मैं भजता हूँ; **श्वेत-द्वीपम्**—श्वेतद्वीप को; **तम्**—उस; **अहम्**—मैं; **इह**—यहाँ; **गोलोकम्**—गोलोक; **इति**—इस तरह; **यम्**—जो; **विदन्तः**—जानता है; **ते**—वे; **सन्तः**—अनुभवी जीव; **क्षिति**—इस जगत् में; **विरल**—विरले; **चाराः**—चर; **कतिपये**—कुछ ही।

मैं उस श्वेतद्वीप नामक दिव्य धाम को भजता हूँ जहाँ प्रिय लक्ष्मियाँ अपने शुद्ध भाव से परम पुरुष कृष्ण की अपने एकमात्र प्रेमी के रूप में सेवा करती हैं, जहाँ प्रत्येक वृक्ष कल्पतरु है, जहाँ की भूमि वाञ्छित चिन्तामणि है, सारा जल अमृत है, सारे शब्द गीत हैं, सारा गमन नृत्य है, वंशी जहाँ प्रिय सखी है, जहाँ की ज्योति चिदानंदमय एवं परम दिव्य जीव आनन्दमय और आस्वाद्य है, जहाँ अनगिनत सुरभी गाएँ चिन्मय महाक्षीरसागरों को प्रवाहित करती हैं, जहाँ चिन्मय काल का नित्य अस्तित्व है, जिसमें सदा वर्तमान ही रहता है और भूत-भविष्य नहीं होने के कारण अर्धक्षण भी नहीं बीतता, और जो इस जगत् में विरले भगवन्निष्ठ संतों द्वारा ही 'गोलोक' के रूप में जाना जाता है।

तात्पर्य

वह क्षेत्र जिसको जीवगण अपने सर्वोत्कृष्ट रस-भजन द्वारा प्राप्त करते हैं, यद्यपि सम्पूर्ण चिन्मय है, तथापि विविधता से कदापि रहित नहीं है। क्रोध, भय तथा मोह द्वारा निर्विशेष ब्रह्मधाम प्राप्त होता है। भक्तगण रसानुसार चिज्जगत् के परव्योम-वैकुण्ठ या उसके ऊपर स्थित गोलोक धाम को प्राप्त करते हैं। वास्तव में वही धाम पूर्णरूपेण शुद्ध होने के कारण 'श्वेतद्वीप' कहलाता है। जड़ जगत् में जो लोग चरम रस भक्तिसिद्धि लाभ करते हैं वे इहलोक स्थित गोकुल, वृंदावन एवं नवद्वीप में उसी श्वेतद्वीप-तत्त्व का अवलोकन करके उसे 'गोलोक' का ही नाम देते हैं। गोलोक के चिन्मय जगत् में समस्त विविध तत्त्व—जैसे प्रेमीगण, वृक्ष-लताएँ, पर्वत, नदियाँ, वन, जल, वाणी, गति, वंशी का संगीत, सूर्य-चंद्र,

स्वाद तथा आस्वादन (अर्थात् चौंसठ कलाओं के अचिन्त्य आश्चर्य), अमृत-तुल्य दूध देती सुरभी गाएँ एवं नित्यवर्तमान चिन्मय काल—अपने परम माधुर्य में सर्वदा शोभा पाते हैं।

गोलोक की ओर इंगित करने वाले वर्णन वेद एवं पुराण, तंत्र आदि शास्त्रों में कई स्थानों पर पाए जाते हैं। छांदोग्य उपनिषद् में कहा गया है—*ब्रूयाद्यावन्वा अयमाकाशस्तावनेष अन्तर्हृद आकाशः उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते। उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन्समाहितमिति*— मूल तात्पर्य यही है कि इस मायिक जगत् की सभी विविधताएँ तथा उससे अधिक एवं परे की विविधताएँ गोलोक में पाई जाती हैं। दिव्य जगत् की विविधता पूर्णतः केन्द्रित है, जबकि प्राकृत जगत् की विविधता अकेन्द्रित होने के कारण सुख-दुखदायक है। गोलोक की केन्द्रित विविधता शुद्ध तथा चिदानन्दमय है। शुद्ध भक्तिसमाधि के द्वारा वेद तथा वेदों द्वारा प्रकाशित भक्ति के साधक अपनी भक्तिभावयुक्त चिद्वृत्ति का अवलम्बन करके वह दिव्य धाम देख सकते हैं तथा कृष्ण-कृपा से उनकी क्षुद्र चिद्वृत्ति अनंत-गुण-संपन्न होकर कृष्ण के भोग की समानता प्राप्त कर सकती है।

परम् अपि तद् आस्वाद्यम् अपि च (परम भी और जो आस्वाद्य भी है) का अर्थ गूढ है। '*परम अपि*' से ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण ही समस्त चिदानंदमय तत्त्वों में परम सत्य हैं एवं *तद् आस्वाद्यम् अपि* का अर्थ है 'उनके आस्वादन का तत्त्व'। कृष्ण के लिए राधा के प्रेम की महिमा, राधा द्वारा अनुभव किया गया कृष्ण-रस तथा ऐसे अनुभव में राधा का सुख—ये तीनों भाव कृष्ण के आस्वादन हेतु उपलब्ध रहते हैं। उसी के हेतु वे श्री गौरसुंदर रूप धरते हैं और इसी से श्री गौरसुंदर के रस-सेवा-सुख का गठन होता है। यह भी केवल श्वेतद्वीप में ही नित्य विद्यमान रहता

है।

श्लोक ५७

अथोवाच महाविष्णुर्भगवन्तं प्रजापतिम्।
ब्रह्मन्महत्त्वविज्ञाने प्रजासर्गे च चेन्मतिः।
पञ्चश्लोकीमिमां विद्यां वत्स दत्तां निबोध मे।।५७।।

अथ—तब; **उवाच**—कहा; **महा-विष्णुः**—भगवान् ने; **भगवन्तम्**—महिमावान; **प्रजापतिम्**—ब्रह्मा से; **ब्रह्मन्**—हे ब्रह्मा; **महत्त्व**—महिमा (भगवान् की); **विज्ञाने**—वास्तविक ज्ञान में; **प्रजा-सर्गे**—प्रजा के उत्पादन में; **च**—और; **चेत्**—यदि; **मतिः**—इच्छा; **पंच-श्लोकीम्**—पाँच श्लोकों की; **इमाम्**—इस; **विद्याम्**—विद्या को; **वत्स**—मेरे प्रिय; **दत्ताम्**—दी गई; **निबोध**—सुनो; **मे**—मुझसे।

ब्रह्मा जी की सत्यसारगर्भित स्तुति सुनने के पश्चात् भगवान् श्रीकृष्ण ब्रह्मा से बोले, "हे ब्रह्मा! मेरे महत्व-विज्ञान को विशेष रूप से जानकर यदि प्रजा सृष्टि करने की तुम्हारी इच्छा हो, तो हे वत्स! मुझसे इस पञ्चश्लोकी विद्या को सुनो।"

तात्पर्य

ब्रह्मा के व्याकुल होकर 'कृष्ण', 'गोविंद' आदि रूप-गुण-लीला सूचक नामोच्चारण करने से भगवान् प्रसन्न हो गए। ब्रह्मा के हृदय में भौतिक सृष्टि करने की इच्छा थी। तब श्रीकृष्ण ने ब्रह्मा को बताया कि किस प्रकार सांसारिक व्यापारों में प्रवृत्त जीव भी अपने कर्मों में भगवद् आज्ञा पालन करने की इच्छा को समाहित करके विशुद्ध अनन्या भक्ति कर सकते हैं। "भगवद्ज्ञान ही परम ज्ञान है; अगर तुम ऐसे ही ज्ञान सहित प्रजा की सृष्टि करना चाहते हो तो सावधानीपूर्वक परवर्ती पाँच श्लोकों में

वर्णित भक्ति का विज्ञान सुनो।" (यहाँ पर इसका वर्णन किया जा रहा है कि भगवान् के आदेशों का पालन करने के रूप में सांसारिक कार्य करते हुए किस तरह भक्ति की जाती है)। ❀

श्लोक ५८

प्रबुद्धे ज्ञानभक्तिभ्यामात्मन्यानन्दचिन्मयी।
उदेत्यनुत्तमा भक्तिर्भगवत्प्रेमलक्षणा।।५८।।

प्रबुद्धे—प्रबुद्ध होने पर; **ज्ञान**—ज्ञान से; **भक्तिभ्याम्**—और भक्ति से; **आत्मनि**—शुद्ध आत्मा में; **आनंद-चित्-मयी**—आनंदचिन्मयी; **उदेति**—जागृत होती है; **अनुत्तमा**—श्रेष्ठतम; **भक्तिः**—भक्ति; **भगवत्**—कृष्ण के लिए; **प्रेम**—प्रेम के द्वारा; **लक्षणा**—लक्षित।

जब ज्ञान तथा भक्ति के द्वारा शुद्ध चिदनुभूति उत्तेजित होती है, तो समस्त जीवों के आत्मप्रिय श्रीकृष्ण के प्रति भगवद्-प्रेमलक्षणा चिन्मयरसरूपा सर्वोत्तमा भक्ति जागृत होती है।

तात्पर्य

परम सत्य से सम्बंध का ज्ञान ही वास्तविक 'ज्ञान' है। यह चित्, अचित् तथा कृष्ण एवं उनके परस्पर संबंध का ज्ञान है। यहाँ मनोधर्मी चिंतन की ओर संकेत नहीं किया गया है क्योंकि वह भक्ति-विरोधी होता है। *दश मूल* के प्रथम सात सिद्धांतों को आत्मसात् कराने वाला ज्ञान सम्बंध-ज्ञान कहलाता है। कृष्ण की खोज में सम्पादित क्रियाएँ, यथा श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य एवं आत्मनिवेदन भक्ति शास्त्रों में *अभिधेय* कहलाती हैं। ये विशेष रूप से *भक्तिरसामृत सिन्धु* में वर्णित हैं। ऐसे ज्ञान तथा भक्ति के द्वारा भगवान् की प्रेमाभक्ति जागृत होकर प्रकट होती है। वही सर्वोत्तम भक्ति है एवं

वही जीव का साध्य-तत्त्व है। ❀

श्लोक ५९

प्रमाणैस्तत्सदाचारैस्तदभ्यासैर्निरन्तरम्।
बोधयनात्मनात्मानं भक्तिमप्युत्तमां लभेत्।।५९।।

प्रमाणैः—शास्त्र प्रमाण द्वारा; **तत्**—उनका; **सत्-आचरैः**—सदाचरण द्वारा; **तत्**—उनका; **अभ्यासैः**—अभ्यास से; **निरन्तरम्**—निरन्तर; **बोधयन्**—बोध; **आत्मना**—स्वयं की बुद्धि द्वारा; **आत्मानम्**—आत्मा; **भक्तिम्**—भक्ति; **अपि**—अवश्य; **उत्तमाम्**—सर्वोत्तम; **लभेत्**—लाभ लिया जा सकता है।

सर्वोत्तम भक्ति की प्राप्ति शास्त्र प्रमाण, सदाचार तथा निरंतर स्वरूपोपलब्धि के अभ्यास द्वारा शनैः शनैः होती है।

तात्पर्य

प्रमाण—भक्ति शास्त्र उदाहरणस्वरूप श्रीदम्भागवतम्, वेद, पुराण, गीता आदि। *सदाचार*—शुद्ध भक्त साधुओं का आचरण तथा रागभक्त साधुओं का रागमूलक आचरण। *अभ्यास*—शास्त्रों द्वारा दशमूल सिद्धांतों से अवगत होकर उनमें निर्णीत नाम, रूप, गुण तथा लीलात्मक हरिनाम की प्राप्ति के पश्चात् उसका अहर्निश अनुशीलन करना। इसमें शास्त्राध्ययन तथा साधु-संग का अभिप्राय है। सदाचार सहित हरिनाम की सेवा करने से दसों नामापराध निरस्त हो जाते हैं। साधुओं की उसी अपराधशून्य नाम-सेवा के अनुसरण को *अभ्यास* कहते हैं। इसी प्रकार साधन अभ्यास करते करते साध्य-फल अर्थात् प्रेमलक्षणा भक्ति उदित होती है।

श्लोक ६०

यस्याः श्रेयस्करं नास्ति यया निर्वृतिमाप्नुयात्।
या साधयति मामेव भक्तिं तामेव साधयेत्।।६०।।

यस्याः—जिसकी अपेक्षा; **श्रेयस्करम्**—श्रेयस्कर; **नास्ति**—नहीं है; **यया**—जिससे; **निर्वृतिम्**—परम आनंद; **आप्नुयात्**—प्राप्त कर सकता है; **या**—जो; **साधयति**—पहुँचता है; **माम्**—मुझ तक; **एव**—अवश्य; **भक्तिम्**—प्रेमाभक्ति; **ताम्**—उसे; **एव**—अवश्य; **साधयेत्**—साधना करनी चाहिए।

जिससे अधिक श्रेयस्कर कुछ भी नहीं है, जिसके द्वारा परमानंद की प्राप्ति होती है और जो मुझे प्राप्त कराने में समर्थ है, मेरी उस प्रेमाभक्ति का ही साधन करना चाहिए।

तात्पर्य

जीव के लिए प्रेमाभक्ति से बढ़कर कुछ भी नहीं है। इसमें परमानंद का अनुभव होता है। एकमात्र प्रेमाभक्ति से ही कृष्ण के चरणकमल प्राप्त होते हैं। उत्साहपूर्वक भक्ति की परिपक्व अवस्था को अपना लक्ष्य बनाकर जो व्यक्ति उस साध्यभक्ति के उद्देश्य से व्याकुलता सहित साधनभक्ति का अनुशीलन करेगा, उसी को वह साध्यतत्त्व प्राप्त होगा, अन्यों को नहीं।

श्लोक ६१

धर्मानन्यान् परित्यज्य मामेकं भज विश्वसन्।
यादृशी यादृशी श्रद्धा सिद्धिर्भवति तादृशी।।
कुर्वन्निरन्तरं कर्म लोकोऽयमनुवर्तते।
तेनैव कर्मणा ध्यायन्मां परां भक्तिमिच्छति।।६१।।

धर्मान्—धर्मों को; **अन्यान्**—अन्य; **परित्यज्य**—त्याग करके; **माम्**—मुझे; **एकम्**—केवल; **भज**—भजो, सेवा करो; **विश्वसन्**—विश्वास सहित; **यादृशी यादृशी**—जैसी जैसी; **श्रद्धा**—श्रद्धा; **सिद्धिः**—सिद्धि; **भवति**—होती है; **तादृशी**—वैसी ही; **कुर्वन्**—करते हुए; **निरंतरम्**—निरंतर; **कर्म**—कर्म; **लोकः अयम्**—इस लोक के मनुष्य; **अनुवर्तते**—अनुसरण करते हैं; **तेन**—उस; **एव**—अवश्य; **कर्मणा**—कर्म से; **ध्यायन्**—ध्यान करते हुए; **माम्**—मुझपर; **पराम्**—परम; **भक्तिम्**—भक्ति; **इच्छति**—प्राप्त करता है।

हे ब्रह्मा! अन्य सारे धर्मों का परित्याग करके श्रद्धापूर्वक एकमात्र मेरा भजन करो तथा मेरी सेवा करो। श्रद्धा के अनुसार ही सिद्धि मिलती है। इस जगत् के लोग निरंतर किसी न किसी आदर्श हेतु कर्मरत रहते हैं। उन्हीं सब कर्मों द्वारा मेरा चिन्तन करते हुए वे मेरी सेवा रूपी परा-भक्ति को प्राप्त करेंगे।

तात्पर्य

विशुद्ध भक्ति ही सारे जीवों का असली धर्म है। अन्यान्य सभी धर्म बाह्य कर्म मात्र हैं। ऐसे कई धर्म हैं, जैसे निर्वाणलक्षित ब्रह्मज्ञान धर्म, कैवल्य लक्षित *अष्टांग योग धर्म*, जड़-सुख लक्षित बहिर्मुख *कर्मकाण्ड रूप धर्म*, कर्म ज्ञान के संबंध-संयोगरूपी *ज्ञानयोग धर्म* एवं शुष्क *वैराग्ययोग धर्म*। इन सबसे मुक्त होकर श्रद्धामूलक भक्तिधर्म का अवलम्बन करके मेरा भजन करो। मुझ पर अटूट श्रद्धा ही विश्वास है। वही विश्वासरूप श्रद्धा शनैः शनैः शुद्ध होकर क्रमशः निष्ठा, रुचि, आसक्ति तथा भाव में उत्तरोत्तर परिवर्तित होती जाती है। श्रद्धा जितनी अधिक विशद हो, उतनी ही अधिक सिद्धि होती है। यदि पूछा जाय कि कोई निरंतर भक्ति-सिद्धि में ही रत रहे तो जगत् के व्यापारों का पालन-चालन किस प्रकार संभव होगा? और समाज तथा निज देह के व्यापारों के छूटने से शरीर के नष्ट

हो जाने के पश्चात् भक्ति की सिद्धि के लिए साधना किस प्रकार होगी?

इस संशय की जड़ पर प्रहार करने हेतु भगवान् कहते हैं, "यह संसार कर्मों के निरन्तर निर्वाह पर ही टिका रहता है। इन सारे कर्मों को मेरे स्मरण से भर दो। इससे जब उन कर्मों का कर्मत्व नष्ट हो जाये, तो उनमें मेरी भक्ति ही दिखेगी।

"मानव की देहयात्रा का निर्वाह शारीरिक, मानसिक तथा सामाजिक क्रियाओं से होता है। भोजन, आसन, भ्रमण, शयन, निद्रा, स्नान, ओढ़न इत्यादि शारीरिक क्रियाएँ; चिंता, स्मरण, धारणा, विषयोपलब्धि, सुख-दुखादि बोध इत्यादि मानसिक क्रियाएँ; विवाह, प्रजा-धर्म पालन, भ्रातृत्व, यज्ञों में जाना, आहुतियाँ देना, जन-कल्याण हेतु कुँएँ और तालाब खुदवाना, संबंधों का पालन, आतिथ्य, उपयुक्त नागरिक कर्तव्यों का पालन, दूसरों का यथायोग्य आदर इत्यादि विभिन्न सामाजिक क्रियाएँ हैं। ये समस्त कर्म जब अपने निजी भोग हेतु किए जाते हैं तो उन्हें *'कर्म काण्ड'* कहा जाता है; जब इन कर्मों द्वारा ज्ञान का अवसर प्राप्त करने की चेष्टा रहती है तो *'ज्ञान-योग'* या *'कर्म-योग'* कहलाते हैं और जब इन समस्त कर्मों को भक्ति के साधन रूप में किया जाए, तो वे *'ज्ञान-भक्ति-योग'* कहलाते हैं। परन्तु शुद्ध उपासना के सिद्धांत पर आधारित कर्मों को ही साक्षात् *'भक्ति'* कहा जाता है। समय से साक्षात् भक्ति एवं लोक व्यवहार द्वारा गौण भक्ति का अनुष्ठान करने से प्रत्येक कर्म में मेरा *'ध्यान'* होता है; इस प्रकार कर्म करते हुए भी जीव बहिर्मुख नहीं होता। इसी प्रक्रिया से अन्तर्मुखता का अभ्यास होता है, जैसा *ईशोपनिषद्* के इस मंत्र में वर्णित है —

ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम्।।

इस संबंध में भाष्यकार कहता है, *'तेन ईश-त्यक्तेन विसृष्टेन'*। मूल तात्पर्य यही है कि यदि सारे कर्मफलों को भगवद्-कृपा के रूप में स्वीकार किया जाए, तो सांसारिक कर्म सांसारिक न रहकर भक्ति में परिवर्तित हो जायेंगे। अतएव, *'कुर्वन्नेवेह कर्माणि... कर्म लिप्यते नरे'*।

यदि सांसारिक कार्यों को उपर्युक्त विधि से संपन्न किया जाए तो कई सौ वर्षों के सांसारिक जीवन में भी व्यक्ति कर्म-बंधन में लिप्त नहीं होगा। इन दो मंत्रों का ज्ञानपक्षीय अर्थ है—कर्म-फल त्याग। किन्तु भक्तिपक्षीय अर्थ है—कर्मों के भगवद् समर्पण द्वारा कृष्ण की कृपा का लाभ। इस अर्चन-मार्ग में हमें हमारे सांसारिक कर्तव्य भगवद्-उपासना के स्मरण में करने चाहिए। ब्रह्मा के हृदय में सृष्टि की इच्छा है। अगर उसकी पूर्ति को भगवद्-आज्ञापालन के ध्यान सहित किया जाए तो भगवान् की शरणागति का लक्षण होने के नाते वह अनुकूलता का पोषणकारी 'गौण-धर्म' बन जायेगा। ब्रह्मा के लिए इस प्रकार का उपदेश सर्वथा उपयुक्त था। किन्तु इस उपदेश का उस जीव की परिस्थिति में कोई स्थान नहीं, जिसमें भावोदय हो जाने पर कृष्ण से पृथक् तत्त्वों के प्रति स्वाभाविक वैराग्य प्रकट हो गया हो।

श्लोक ६२

अहं हि विश्वस्य चराचरस्य
बीजं प्रधानं प्रकृतिः पुमांश्च।
मयाहितं तेज इदं विभर्षि
विधे विधेहि त्वमथो जगन्ति।।६२।।

अहम्—मैं; **हि**—अवश्य ही; **विश्वस्य**—जगत् का; **चराचरस्य**—चर और अचर

वस्तुओं का; **बीजम्**—बीज; **प्रधानम्**—घनीभूत पदार्थ; **प्रकृतिः**—प्रकृति; **पुमान्**—पुरुष; **च**—और; **मया**—मेरे द्वारा; **आहितम्**—प्रदत्त; **तेजः**—तेज; **इदम्**—यह; **विभर्षि**—तुम वहन करो; **विधे**—हे ब्रह्मा; **विधेहि**—विधान करो; **त्वम्**—तुम; **अथ**—अब; **जगन्ति**—जगतों का।

हे ब्रह्मा! सुनो, मैं इस स्थावर-जंगम जगत् का बीज अर्थात् मूल तत्त्व हूँ। प्रधान (द्रव्य या पदार्थ का सत्त्व), प्रकृति तथा पुरुष भी मैं ही हूँ। तुम्हारे द्वारा धारित ब्रह्म का यह तेज भी मेरे द्वारा ही प्रदत्त है। अब तुम इस तेज द्वारा स्थावर-जंगम की सृष्टि का विधान करो।

तात्पर्य

कुछ विचारक निष्कर्ष निकालते हैं कि निर्विशेष ब्रह्म ही परम तत्त्व है एवं स्वविमोहन (विवर्त) द्वारा सविशेष प्रतीत होता है। या माया ही, परिछिन्न होने पर स्वयं भौतिक जगत् तथा अपरिछिन्न होने पर ब्रह्म है। या ब्रह्म ही मूल तत्त्व है और यह भौतिक जगत् उसका प्रतिबिंब है। या यह सब जीव का भ्रम है। कुछ सोचते हैं कि ईश्वर स्वभाव से पृथक् तत्त्व है, जीव भी अन्य पृथक् तत्त्व है, एवं भौतिक जगत्, यद्यपि एक ही तत्त्व है, तथापि नित्य स्वतंत्र रूप से पृथक् है। या भगवान ही घनीभूत तत्त्व हैं एवं अन्य समस्त तत्त्व चित् और अचित् वृत्ति संपन्न होकर भी साररूप में एक हैं। कुछ मानते हैं कि अचिन्त्य शक्ति के कारण कभी अद्वैत एवं कभी द्वैत का अनुभव सत्य के रूप में होता है। कुछ दूसरे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शक्तिशून्य अद्वैत निरर्थक है; ब्रह्म शुद्धशक्तियुक्त नित्यशुद्ध अद्वैत तत्त्व है।

उपर्युक्त समस्त चिंतन वेदांत-सूत्र पर आधारित हैं, और वे वेद से

आए हैं। इन चिंतनों में यद्यपि सर्वत्र सिद्ध सत्य नहीं है, तथापि कुछ सत्य तो है। वेद-बिरोधी चिंतनों, जैसे सांख्य, पातंजल, न्याय, वैशेषिक, यहाँ तक कि पूर्व मीमांसा (जो वेद के केवल एक भाग में वर्णित कर्मकाण्ड पर आधारित है) का तो कहना ही क्या, पूर्वोक्त चिंतन भी वेदांत पर बाह्य रूप से ही निर्भर हैं। "इन सब मनोधर्मी चिंतनों को त्यागकर तुम्हें एवं तुम्हारे सम्प्रदाय को अचिन्त्य-भेदाभेद का सिद्धांत अपनाना चाहिए। यह तुम्हें सच्चा भक्त बनने के योग्य बना देगा। मूल तात्पर्य यह है कि चर जगत् जीवों से बना है एवं अचर जगत् पदार्थों से बना है। इनमें समस्त जीव मेरी परा शक्ति से प्रकट हुए हैं, और यह भौतिक जगत् मेरी अपरा शक्ति से प्रकट हुआ है। मैं सब कारणों का कारण हूँ। दूसरे शब्दों में, मैं यद्यपि तटस्था एवं अचित् शक्तियों से अभिन्न हूँ, तथापि अपनी इच्छा शक्ति द्वारा उनको नियमित करता हूँ। उन विशेष शक्तियों के परिणाम द्वारा ही 'प्रधान', 'प्रकृति' तथा 'पुरुष' उत्पन्न होते हैं। अतः समस्त शक्तियों में यद्यपि मैं ही 'प्रधान', 'प्रकृति' तथा 'पुरुष' हूँ, तथापि शक्तिमान होने के नाते मैं उन समस्त शक्तियों से नित्य भिन्न भी हूँ। यह एक ही साथ भिन्नता तथा अभिन्नता भी मेरी अचिन्त्य शक्ति से आई है। अतः जीव, जड़ तथा कृष्ण के परस्पर सत्य-संबंध के ज्ञान पर आधारित भक्तियोग के अभ्यास द्वारा कृष्ण प्रेम प्राप्ति को अचिन्त्य भेदाभेद सिद्धांत पर आधारित रहने दो। मेरे इसी निर्देश का अपने सम्प्रदाय (श्री ब्रह्म सम्प्रदाय) की गुरु परम्परा द्वारा प्रसारित होने दो।" ❀

लेखक-परिचय

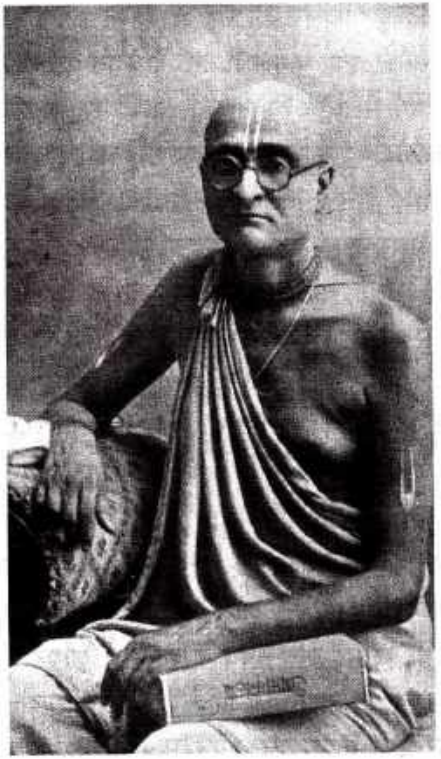

श्रील भक्तिसिद्धांत सरस्वती श्री श्रीजगन्नाथ पुरी धाम में श्रील भक्तिविनोद ठाकुर के यहाँ जन्मे थे जो कि भगवान् चैतन्य से चली आ रही परम्परा के महत्वपूर्ण कृष्णभावनाभावित आचार्य थे। सरकारी मैजिस्ट्रेट के पद पर रहकर भी श्रील भक्तिविनोद भारत में भगवान् चैतन्य की शिक्षाओं की स्थापना करने का अथक प्रयास करते रहे, जहाँ दुर्भाग्यवश लोग भगवान् कृष्ण की भक्ति के सिद्धांतों से विमुख हो चले थे। उन्होंने एक विश्वव्यापक कृष्णभावनामृत संघ का स्वप्न देखा एवं भगवान् से इस स्वप्न की पूर्ति हेतु पुत्ररत्न प्रदान करने की प्रार्थना की।

६ फरवरी, १८७४ को श्रीजगन्नाथ पुरी के पावन तीर्थ-नगर में, जहाँ

श्रील भक्तिविनोद ठाकुर श्रीजगन्नाथ मंदिर के अध्यक्ष का कार्यभार संभालते थे, श्रील् भक्तिसिद्धांत सरस्वती इस जगत् में प्रकट हुए। उनका नाम बिमल प्रसाद रखा गया। सात वर्ष की आयु में बिमल प्रसाद ने भगवद्गीता के सात सौ से अधिक श्लोक कंठस्थ कर लिए, एवं वे उन पर सारगर्भित टिप्पणियाँ करने लगे। कई महत्वपूर्ण ग्रंथों एवं कृष्णभावना दर्शन के लेखों के लेखक श्रील भक्तिविनोद ठाकुर ने अपने पुत्र को छपाई तथा प्रूफ शोधन में निपुण कर दिया।

२५ वर्ष की आयु होने तक बिमल प्रसाद ने संस्कृत, गणित एवं ज्योतिष के पंडित के रूप में प्रभावी यश अर्जित कर लिया। उनके ज्योतिष ग्रंथ, 'सूर्य सिद्धांत' के कारण उनको अत्यधिक विद्वता हेतु सिद्धांत सरस्वती की उपाधि मिली। १९०५ में, अपने पिता के परामर्श का अनुसरण करते हुए, सिद्धांत सरस्वती ने गौर-किशोर दास बाबाजी से दीक्षा ली। यद्यपि गौरकिशोर दास बाबाजी संत एवं कृष्ण के उत्तम भक्त के रूप में प्रसिद्ध थे, तथापि वे अनपढ़ थे। अपने अत्यंत शिक्षित शिष्य की विनम्रता एवं समर्पण से संतुष्ट होकर श्रील गौरकिशोर ने उनको अपना पूर्ण आशीर्वाद प्रदान किया और उनसे निवेदन किया, "अन्य सभी कार्य छोड़कर परमसत्य का प्रचार करो।" तत्पश्चात् सिद्धांत सरस्वती ने अपने पिता के प्रचार कार्य में स्वयं को एक योग्य सहयोगी प्रमाणित किया।

१९१४ में श्रील भक्तिविनोद ठाकुर के देहांत के उपरांत, सिद्धांत सरस्वती अपने पिता की पत्रिका, 'सज्जन-तोषणी' के संपादक बन गए एवं उन्होंने कृष्णभावनामृत साहित्य हेतु 'भगवत् प्रेस' की स्थापना की। फिर १९१८ में सिद्धांत सरस्वती ने संन्यास स्वीकार किया एवं उनका नाम श्रील भक्तिसिद्धांत सरस्वती गोस्वामी महाराज पड़ा। पूरे भारत में

कृष्णभावनामृत का प्रचार करने के उद्देश्य से उन्होंने देशभर में गौडीय मठ की ६४ शाखाओं का गठन किया। इसका प्रधान कार्यालय चैतन्य गौडीय मठ भगवान् चैतन्य के जन्मस्थान श्रीधाम मायापुर में अवस्थित था। बाद में उन्होंने अपने शिष्यों को प्रचार कार्य हेतु यूरोप भी भेजा।

श्रील भक्तिसिद्धांत ने कृष्णभावनामृत की परम्परा को बीसवीं शताब्दी की तकनीकी एवं सामाजिक परिस्थिति के अनुसार ढाला। वे छापेखाने को विश्व में कृष्णभावनामृत प्रचार का सबसे प्रभावी साधन मानते थे। उन्होंने स्वयं कई महत्वपूर्ण भाष्य एवं दार्शनिक निबंध लिखे। वे अपने संन्यासी शिष्यों को विदेशी वस्त्र पहनने एवं पैदल के बदले आधुनिक वाहनों में यात्रा करने की छूट देनेवाले प्रथम गुरु थे।

१९२२ में, एक मेधावी युवा छात्र, अभय चरण दे, श्रील भक्तिसिद्धांत से कलकत्ता के गौडीय मठ में मिला। श्रील भक्तिसिद्धांत ने तुरंत उस नवयुवक को परामर्श दिया कि वह विदेश में कृष्णभावनामृत संदेश का प्रचार अंग्रेजी भाषा में करे। अभय श्रील भक्तिसिद्धांत की अभिलाषा को तुरंत कार्यान्वित न कर पाने पर भी गौडीय मठ के सक्रिय सहायक बन गए। १९३३ में अभय श्रील भक्तिसिद्धांत के औपचारिक शिष्य बने, जिन्होंने उनको 'अभय चरणारविंद' नाम दिया।

१९३० के दशक में, श्रील भक्तिसिद्धांत ने अपने प्रचार कार्य का बहुत विस्तार किया। वे भारत के आध्यात्मिक जीवन में कृष्णभावनामृत को एक अग्रशक्ति के रूप में प्रतिष्ठित करने में सफल रहे। अपना कार्य जारी रखने की उत्कंठा में उन्होंने अपने शिष्यों को आज्ञा दी कि वे उनकी अनुपस्थिति में 'गवर्निंग बॉडी कमीशन' (प्रशासनिक आयोग) का गठन करें। १ जनवरी, १९३७ को श्रील भक्तिसिद्धांत सरस्वती इस जगत् से विदा हो गये। दुर्भाग्य से उनके अग्रणी शिष्यों ने उनके 'गवर्निंग बॉडी कमीशन' बनाने के निर्देश का पालन नहीं किया, जिसके फलस्वरूप गौडीय मठ जो एक संयुक्त प्रचार संस्था के रूप में था धीरे धीरे छिन्न-भिन्न हो गया।

किन्तु अभय चरणारविंद श्रील भक्तिसिद्धांत के विश्वव्यापी कृष्णभावनामृत प्रचार के स्वप्न के प्रति एवं अपने लिए व्यक्तिगत निर्देश के प्रति सचेत रहे। उन्होंने संन्यास लेकर भक्तिवेदांत स्वामी महाराज की उपाधि प्राप्त की, एवं अंग्रेजी भाषा में कृष्णभावनामृत के प्रचार हेतु वे १९६५ में अमरीका रवाना हो गए। वहाँ उन्होंने अंतर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ (इस्कॉन) की स्थापना की एवं 'गवर्निंग बॉडी कमीशन' स्थापित किया जो १९७७ में उनके तिरोभाव के उपरांत भी आज तक संस्था का निर्देशन कर रहा है। इस प्रकार कृष्णकृपाश्रीमूर्ति अभय चरणारविंद भक्तिवेदांत स्वामी प्रभुपाद एवं उनके अनुयायियों के गम्भीर प्रयासों से श्रील भक्तिसिद्धांत सरस्वती का कार्य आज भी विश्वभ में चालू है।